है। जो इन बातों को समझने के लिए प्रशिक्षित है, वह भाग्यशाली है। प्रत्येक जीव किन्हीं परिस्थितियों में शरीर त्यागता है, जीवित रहता है और प्रकृति के अधीन होकर भोग करता है। फलस्वरूप वह इन्द्रियभोग के भ्रम में नाना प्रकार के सुख-दुख सहता रहता है। ऐसे व्यक्ति जो काम तथा इच्छा के कारण निरन्तर मूर्ख बनते रहते हैं, अपने शरीर-परिवर्तन तथा विशेष शरीर में अपने वास को समझने की सारी शक्ति खो बैठते हैं। वे इसे नहीं समझ सकते। किन्तु जिन्हें आध्यात्मिक ज्ञान हो चुका है, वे देखते हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है और यह अपना शरीर बदल कर विभिन्न प्रकार से भोगता रहता है। ऐसे ज्ञान से युक्त व्यक्ति समझ सकता है कि इस संसार में बद्धजीव किस प्रकार कष्ट भोग रहे हैं। अतएव जो लोग कृष्णभावनामृत में अत्यधिक आगे बढ़े हुए हैं, वे इस ज्ञान को सामान्य लोगों तक पहुँचाने में प्रयत्नशील रहते हैं, क्योंकि उनका बद्ध जीवन अत्यन्त कष्टप्रद रहता है। उन्हें इसमें से निकल कर कृष्णभावनाभावित होकर आध्यात्मिक लोक में जाने के लिए अपने को मुक्त करना चाहिए।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥११॥

यतन्तः–प्रयास करते हुए; **योगिनः**–अध्यात्मवादी, योगी; **च**–भी; **एनम्**–इसे; **पश्यन्ति**–देख सकते हैं; **आत्मनि**–अपने में; **अवस्थितम्**–स्थित; **यतन्तः**–प्रयास करते हुए; **अपि**–यद्यपि; **अकृत-आत्मानः**–आत्म-साक्षात्कार से विहीन; **न**–नहीं; **एनम्**–इसे; **पश्यन्ति**–देखते हैं; **अचेतसः**–अविकसित मनों वाले, अज्ञानी।

आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त प्रयत्नशील योगीजन यह सब स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। लेकिन जिनके मन विकसित नहीं हैं और जो आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं हैं, वे प्रयत्न करके भी यह नहीं देख पाते कि क्या हो रहा है।

तात्पर्य : अनेक योगी आत्म-साक्षात्कार के पथ पर होते हैं, लेकिन जो आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं है, वह यह नहीं देख पाता कि जीव के शरीर में कैसे-कैसे परिवर्तन हो रहे हैं। इस प्रसंग में *योगिनः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। आजकल ऐसे अनेक तथाकथित योगी हैं और योगियों के तथाकथित संगठन हैं, लेकिन आत्म-साक्षात्कार के मामले में वे शून्य हैं। वे केवल कुछ आसनों में व्यस्त रहते हैं और यदि उनका शरीर सुगठित तथा स्वस्थ हो गया, तो वे सन्तुष्ट हो जाते हैं। उन्हें इसके अतिरिक्त कोई जानकारी नहीं रहती। वे *यतन्तोऽप्यकृतात्मानः* कहलाते हैं। यद्यपि वे तथाकथित योगपद्धति का प्रयास करते हैं, लेकिन वे स्वरूपसिद्ध नहीं हो पाते। ऐसे व्यक्ति आत्मा के देहान्तरण को नहीं समझ सकते। केवल वे ही ये सभी बातें समझ पाते हैं, जो सचमुच योग पद्धति में रमते हैं और जिन्हें आत्मा, जगत् तथा परमेश्वर की अनुभूति हो चुकी है। दूसरे शब्दों में, जो भक्तियोगी हैं वे ही समझ सकते हैं कि किस प्रकार से सब कुछ घटित होता है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥

यत्–जो; **आदित्य-गतम्**–सूर्यप्रकाश में स्थित; **तेजः**–तेज; **जगत्**–सारा संसार; **भासयते**–प्रकाशित होता है; **अखिलम्**–सम्पूर्ण; **यत्**–जो; **चन्द्रमसि**–चन्द्रमा में; **यत्**–जो; **च**–भी; **अग्नौ**–अग्नि में; **तत्**–वह; **तेजः**–तेज; **विद्धि**–जानो; **मामकम्**–मुझसे।

सूर्य का तेज, जो सारे विश्व के अंधकार को दूर करता है, मुझसे ही निकलता है। चन्द्रमा तथा अग्नि के तेज भी मुझसे उत्पन्न हैं।

तात्पर्य : अज्ञानी मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि यह सब कुछ कैसे घटित होता है। लेकिन भगवान् ने यहाँ पर जो कुछ बतलाया है, उसे समझ कर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तथा बिजली देखता है। उसे यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि चाहे सूर्य का तेज हो, या चन्द्रमा, अग्नि अथवा बिजली का तेज, ये सब भगवान् से ही उद्भूत हैं। कृष्णभावनामृत का प्रारम्भ इस भौतिक जगत् में बद्धजीव को उन्नति करने के लिए काफी अवसर प्रदान करता है। जीव मूलतः परमेश्वर के अंश हैं और भगवान् यहाँ पर इंगित कर रहे हैं कि जीव किस प्रकार भगवद्धाम को प्राप्त कर सकते हैं।

इस श्लोक से हम यह समझ सकते हैं कि सूर्य सम्पूर्ण सौर मण्डल को प्रकाशित कर रहा है। ब्रह्माण्ड अनेक हैं और सौर मण्डल भी अनेक हैं। सूर्य, चन्द्रमा तथा लोक भी अनेक हैं, लेकिन प्रत्येक ब्रह्माण्ड में केवल एक सूर्य है। *भगवद्गीता* में (१०.२१) कहा गया है कि चन्द्रमा भी एक नक्षत्र है (*नक्षत्राणामहं शशी*)। सूर्य का प्रकाश परमेश्वर के आध्यात्मिक आकाश में आध्यात्मिक तेज के कारण है। सूर्योदय के साथ ही मनुष्य के कार्यकलाप प्रारम्भ हो जाते हैं। वे भोजन पकाने के लिए अग्नि जलाते हैं और फैक्टरियाँ चलाने के लिए भी अग्नि जलाते हैं। अग्नि की सहायता से अनेक कार्य किये जाते हैं। अतएव सूर्योदय, अग्नि तथा चन्द्रमा की चाँदनी जीवों को अत्यन्त सुहावने लगते हैं। उनकी सहायता के बिना कोई जीव नहीं रह सकता। अतएव यदि मनुष्य यह जान ले कि सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि का प्रकाश तथा तेज भगवान् श्रीकृष्ण से उद्भूत हो रहा है, तो उसमें कृष्णभावनामृत का सूत्रपात हो जाता है। चन्द्रमा के प्रकाश से सारी वनस्पतियाँ पोषित होती हैं। चन्द्रमा का प्रकाश इतना आनन्दप्रद है कि लोग सरलता से समझ सकते हैं कि वे भगवान् कृष्ण की कृपा से ही जी रहे हैं। उनकी कृपा के बिना न तो सूर्य होगा, न चन्द्रमा, न अग्नि और सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के बिना हमारा जीवित रहना असम्भव है। बद्धजीव में कृष्णभावनामृत जगाने वाले ये ही कतिपय विचार हैं।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

गाम्–लोक में; **आविश्य**–प्रवेश करके; **च**–भी; **भूतानि**–जीवों को; **धारयामि**–धारण करता हूँ; **अहम्**–मैं; **ओजसा**–अपनी शक्ति से; **पुष्णामि**–पोषण करता हूँ; **च**–तथा; **औषधीः**–वनस्पतियों

का; **सर्वाः**—समस्त; **सोमः**—चन्द्रमा; **भूत्वा**—बनकर; **रस-आत्मकः**—रस प्रदान करनेवाला।

मैं प्रत्येक लोक में प्रवेश करता हूँ और मेरी शक्ति से सारे लोक अपनी कक्षा में स्थित रहते हैं। मैं चन्द्रमा बनकर समस्त वनस्पतियों को जीवन-रस प्रदान करता हूँ।

तात्पर्य : ऐसा ज्ञात है कि सारे लोक केवल भगवान् की शक्ति से वायु में तैर रहे हैं। भगवान् प्रत्येक अणु, प्रत्येक लोक तथा प्रत्येक जीव में प्रवेश करते हैं। इसकी विवेचना *ब्रह्मसंहिता* में की गई है। उसमें कहा गया है—परमेश्वर का एक अंश, परमात्मा, लोकों में, ब्रह्माण्ड में, जीव में तथा अणु तक में प्रवेश करता है। अतएव उनके प्रवेश करने से प्रत्येक वस्तु ठीक से दिखती है। जब आत्मा होता है तो जीवित मनुष्य पानी में तैर सकता है। लेकिन जब जीवित स्फुलिंग इस देह से निकल जाता है और शरीर मृत हो जाता है तो शरीर डूब जाता है। निस्सन्देह सड़ने के बाद यह शरीर तिनके तथा अन्य वस्तुओं के समान तैरता है। लेकिन मरने के तुरन्त बाद शरीर पानी में डूब जाता है। इसी प्रकार ये सारे लोक शून्य में तैर रहे हैं और यह सब उनमें भगवान् की परम शक्ति के प्रवेश के कारण है। उनकी शक्ति प्रत्येक लोक को उसी तरह थामे रहती है, जिस प्रकार धूल को मुट्ठी। मुट्ठी में बन्द रहने पर धूल के गिरने का भय नहीं रहता, लेकिन ज्योंही धूल को वायु में फेंक दिया जाता है, वह नीचे गिर पड़ती है। इसी प्रकार ये सारे लोक, जो वायु में तैर रहे हैं, वास्तव में भगवान् के विराट रूप की मुट्ठी में बँधे हैं। उनके बल तथा शक्ति से सारी चर तथा अचर वस्तुएँ अपने-अपने स्थानों पर टिकी हैं। वैदिक मन्त्रों में कहा गया है कि भगवान् के कारण सूर्य चमकता है और सारे लोक लगातार घूमते रहते हैं। यदि ऐसा उनके कारण न हो तो सारे लोक वायु में धूल के समान बिखर कर नष्ट हो जाएँ। इसी प्रकार से भगवान् के ही कारण चन्द्रमा समस्त वनस्पतियों का पोषण करता है। चन्द्रमा के प्रभाव से सब्जियाँ सुस्वादु बनती हैं। चन्द्रमा के प्रकाश के बिना सब्जियाँ न तो बढ़ सकती हैं और न स्वादिष्ट हो सकती हैं। वास्तव में मानवसमाज भगवान् की कृपा से काम करता है, सुख से रहता है और भोजन का आनन्द लेता है। अन्यथा मनुष्य जीवित न रहता। *रसात्मकः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक वस्तु चन्द्रमा के प्रभाव से परमेश्वर के द्वारा स्वादिष्ट बनती है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१४॥

अहम्—मैं; **वैश्वानरः**—पाचक-अग्नि के रूप में मेरा पूर्ण अंश; **भूत्वा**—बन कर; **प्राणिनाम्**—समस्त जीवों के; **देहम्**—शरीरों में; **आश्रितः**—स्थित; **प्राण**—उच्छ्वास, निश्वास; **अपान**—श्वास; **समायुक्तः**—सन्तुलित रखते हुए; **पचामि**—पचाता हूँ; **अन्नम्**—अन्न को; **चतुः-विधम्**—चार प्रकार के।

मैं समस्त जीवों के शरीरों में पाचन-अग्नि (वैश्वानर) हूँ और मैं श्वास-प्रश्वास (प्राण वायु) में रह कर चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ।

तात्पर्य : *आयुर्वेद शास्त्र* के अनुसार आमाशय (पेट) में अग्नि होती है, जो वहाँ पहुँचे

भोजन को पचाती है। जब यह अग्नि प्रज्ज्वलित नहीं रहती तो भूख नहीं जगती और जब यह अग्नि ठीक रहती है, तो भूख लगती है। कभी-कभी जब अग्नि मन्द हो जाती है तो उपचार की आवश्यकता होती है। जो भी हो, यह अग्नि भगवान् का प्रतिनिधि स्वरूप है। वैदिक मन्त्रों से भी (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ५.९.१) पुष्टि होती है कि परमेश्वर या ब्रह्म अग्निरूप में आमाशय के भीतर स्थित हैं और समस्त प्रकार के अन्न को पचाते हैं (*अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते*)। चूँकि भगवान् सभी प्रकार के अन्नों के पाचन में सहायक होते हैं, अतएव जीव भोजन करने के मामले में स्वतन्त्र नहीं है। जब तक परमेश्वर पाचन में उसकी सहायता नहीं करते, तब तक खाने की कोई सम्भावना नहीं है। इस प्रकार भगवान् ही अन्न को उत्पन्न करते और वे ही पचाते हैं और उनकी ही कृपा से हम जीवन का आनन्द उठाते हैं। *वेदान्तसूत्र* में (१.२.२७) भी इसकी पुष्टि हुई है। *शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च*—भगवान् शब्द के भीतर, शरीर के भीतर, वायु के भीतर तथा यहाँ तक कि पाचन शक्ति के रूप में आमाशय में भी उपस्थित हैं। अन्न चार प्रकार का होता है—कुछ निगले जाते हैं (पेय), कुछ चबाये जाते हैं (*भोज्य*), कुछ चाटे जाते हैं (*लेह्य*) तथा कुछ चूसे जाते हैं (*चोष्य*)। भगवान् सभी प्रकार के अन्नों की पाचक शक्ति हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥

सर्वस्य—समस्त प्राणियों; **च**—तथा; **अहम्**—मैं; **हृदि**—हृदय में; **सन्निविष्टः**—स्थित; **मत्तः**—मुझ से; **स्मृतिः**—स्मरणशक्ति; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **अपोहनम्**—विस्मृति; **च**—तथा; **वेदैः**—वेदों के द्वारा; **च**—भी; **सर्वैः**—समस्त; **अहम्**—मैं हूँ; **एव**—निश्चय ही; **वेद्यः**—जानने योग्य, ज्ञेय; **वेदान्त-कृत्**—वेदान्त के संकलनकर्ता; **वेदवित्**—वेदों के ज्ञाता; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा; **अहम्**—मैं।

मैं प्रत्येक जीव के हृदय में आसीन हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति होती है। मैं ही वेदों के द्वारा जानने योग्य हूँ। निस्सन्देह मैं वेदान्त का संकलनकर्ता तथा समस्त वेदों का जानने वाला हूँ।

तात्पर्य : परमेश्वर परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और उन्हीं के कारण सारे कर्म प्रेरित होते हैं। जीव अपने विगत जीवन की सारी बातें भूल जाता है, लेकिन उसे परमेश्वर के निर्देशानुसार कार्य करना होता है, जो उसके सारे कर्मों का साक्षी है। अतएव वह अपने विगत कर्मों के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ करता है। इसके लिए आवश्यक ज्ञान तथा स्मृति उसे प्रदान की जाती है। लेकिन वह विगत जीवन के विषय में भूलता रहता है। इस प्रकार भगवान् न केवल सर्वव्यापी हैं, अपितु वे प्रत्येक हृदय में अन्तर्यामी भी हैं। वे विभिन्न कर्मफल प्रदान करने वाले हैं। वे न केवल निराकार ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में पूजनीय हैं, अपितु वे वेदों के अवतार के रूप में भी पूजनीय हैं। वेद लोगों को सही दिशा बताते हैं, जिससे वे समुचित ढंग से अपना

जीवन ढाल सकें और भगवान् के धाम को वापस जा सकें। वेद भगवान् कृष्ण विषयक ज्ञान प्रदान करते हैं और अपने अवतार व्यासदेव के रूप में कृष्ण ही वेदान्तसूत्र के संकलनकर्ता हैं। व्यासदेव द्वारा *श्रीमद्भागवत* के रूप में किया गया वेदान्तसूत्र का भाष्य वेदान्तसूत्र की वास्तविक सूचना प्रदान करता है। भगवान् इतने पूर्ण हैं कि बद्धजीवों के उद्धार हेतु वे उसके अन्न के प्रदाता एवं पाचक हैं, उसके कार्यकलापों के साक्षी हैं तथा वेदों के रूप में ज्ञान के प्रदाता हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में *भगवद्गीता* के शिक्षक हैं। वे बद्धजीव द्वारा पूज्य हैं। इस प्रकार ईश्वर सर्वकल्याणप्रद तथा सर्वदयामय हैं।

अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्। जीव ज्योंही अपने इस शरीर को छोड़ता है, इसे भूल जाता है, लेकिन परमेश्वर द्वारा प्रेरित होने पर वह फिर से काम करने लगता है। यद्यपि जीव भूल जाता है, लेकिन भगवान् उसे बुद्धि प्रदान करते हैं, जिससे वह अपने पूर्वजन्म के अपूर्ण कार्य को फिर से करने लगता है। अतएव जीव अपने हृदय में स्थित परमेश्वर के आदेशानुसार इस जगत् में सुख या दुख का केवल भोग ही नहीं करता है, अपितु उनसे वेद समझने का अवसर भी प्राप्त करता है। यदि कोई ठीक से वैदिक ज्ञान पाना चाहे तो कृष्ण उसे आवश्यक बुद्धि प्रदान करते हैं। वे किसलिए वैदिक ज्ञान प्रस्तुत करते हैं? इसलिए कि जीव को कृष्ण को समझने की आवश्यकता है। इसकी पुष्टि वैदिक साहित्य से होती है—*योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते*। चारों *वेदों, वेदान्त सूत्र* तथा *उपनिषदों* एवं *पुराणों* समेत सारे वैदिक साहित्य में परमेश्वर की कीर्ति का गान है। उन्हें वैदिक अनुष्ठानों द्वारा, वैदिक दर्शन की व्याख्या द्वारा तथा भगवान् की भक्तिमय पूजा द्वारा प्राप्त किया जाता है। अतएव वेदों का उद्देश्य कृष्ण को समझना है। वेद हमें निर्देश देते हैं, जिससे कृष्ण को जाना जा सकता है और उनकी अनुभूति की जा सकती है। भगवान् ही चरम लक्ष्य हैं। *वेदान्तसूत्र* (१.१.४)में इसकी पुष्टि इन शब्दों में हुई है—*तत्तु समन्वयात्*। मनुष्य तीन अवस्थाओं में सिद्धि प्राप्त करता है। वैदिक साहित्य के ज्ञान से भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को समझा जा सकता है, विभिन्न विधियों को सम्पन्न करके उन तक पहुँचा जा सकता है और अन्त में उस परम लक्ष्य श्रीभगवान् की प्राप्ति की जा सकती है। इस श्लोक में वेदों के प्रयोजन, वेदों के ज्ञान तथा वेदों के लक्ष्य को स्पष्टतः परिभाषित किया गया है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥

द्वौ—दो; **इमौ**—ये; **पुरुषौ**—जीव; **लोके**—संसार में; **क्षरः**—च्युत; **च**—तथा; **अक्षरः**—अच्युत; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा; **क्षरः**—च्युत; **सर्वाणि**—समस्त; **भूतानि**—जीवों को; **कूट-स्थः**—एकत्व में; **अक्षरः**—अच्युत; **उच्यते**—कहा जाता है।

जीव दो प्रकार के हैं—च्युत तथा अच्युत। भौतिक जगत् में प्रत्येक जीव च्युत (क्षर) होता है और आध्यात्मिक जगत् में प्रत्येक जीव अच्युत (अक्षर) कहलाता है।

तात्पर्य : जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भगवान् ने अपने व्यासदेव अवतार में *ब्रह्मसूत्र* का संकलन किया। भगवान् ने यहाँ पर *वेदान्तसूत्र* की विषयवस्तु का सार-संक्षेप

दिया है। उनका कहना है कि जीव जिनकी संख्या अनन्त है, दो श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं—च्युत (क्षर) तथा अच्युत (अक्षर)। जीव भगवान् के सनातन पृथक्कीकृत अंश (विभिन्नांश) हैं। जब उनका संसर्ग भौतिक जगत् से होता है तो वे जीवभूत कहलाते हैं। यहाँ पर *क्षरः सर्वाणि भूतानि* पद प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है कि जीव च्युत हैं। लेकिन जो जीव परमेश्वर से एकत्व स्थापित कर लेते हैं वे अच्युत कहलाते हैं। एकत्व का अर्थ यह नहीं है कि उनकी अपनी निजी सत्ता नहीं है, बल्कि यह कि दोनों में भिन्नता नहीं है। वे सब सृजन के प्रयोजन को मानते हैं। निस्सन्देह आध्यात्मिक जगत् में सृजन जैसी कोई वस्तु नहीं है, लेकिन चूँकि, जैसा कि *वेदान्तसूत्र* में कहा गया है, भगवान् समस्त उद्भवों के स्रोत हैं, अतएव यहाँ पर इस विचारधारा की व्याख्या की गई है।

भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार जीवों की दो श्रेणियाँ हैं। वेदों में इसके प्रमाण मिलते हैं, अतएव इसमें सन्देह करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस संसार में संघर्ष-रत सारे जीव मन तथा पाँच इन्द्रियों से युक्त शरीर वाले हैं जो परिवर्तनशील हैं। जब तक जीव बद्ध है, तब तक उसका शरीर पदार्थ के संसर्ग से बदलता रहता है। चूँकि पदार्थ बदलता रहता है, इसलिए जीव बदलते प्रतीत होते हैं। लेकिन आध्यात्मिक जगत् में शरीर पदार्थ से नहीं बना होता, अतएव उसमें परिवर्तन नहीं होता। भौतिक जगत् में जीव छः परिवर्तनों से गुजरता है—जन्म, वृद्धि, अस्तित्व, प्रजनन, क्षय तथा विनाश। ये भौतिक शरीर के परिवर्तन हैं। लेकिन आध्यात्मिक जगत् में शरीर-परिवर्तन नहीं होता, वहाँ न जरा है, न जन्म और न मृत्यु। वे सब एकावस्था में रहते हैं। *क्षरः सर्वाणि भूतानि*—जो भी जीव, आदि जीव ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र चींटी तक भौतिक प्रकृति के संसर्ग में आता है, वह अपना शरीर बदलता है। अतएव ये सब *क्षर* या *च्युत* हैं। किन्तु आध्यात्मिक जगत् में वे मुक्त जीव सदा एकावस्था में रहते हैं।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

उत्तमः—श्रेष्ठ; **पुरुषः**—व्यक्ति, पुरुष; **तु**—लेकिन; **अन्यः**—अन्य; **परम**—परम; **आत्मा**—आत्मा; **इति**—इस प्रकार; **उदाहृतः**—कहा जाता है; **यः**—जो; **लोक**—ब्रह्माण्ड के; **त्रयम्**—तीन विभागों में; **आविश्य**—प्रवेश करके; **बिभिर्ति**—पालन करता है; **अव्ययः**—अविनाशी; **ईश्वरः**—भगवान्।

इन दोनों के अतिरिक्त, एक परम पुरुष परमात्मा है, जो साक्षात् अविनाशी भगवान् है और जो तीनों लोकों में प्रवेश करके उनका पालन कर रहा है।

तात्पर्य : इस श्लोक का भाव *कठोपनिषद्* (२.२.१३) तथा *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (६.१३) अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। वहाँ यह कहा गया है कि असंख्य जीवों के नियन्ता, जिनमें से कुछ बद्ध हैं और कुछ मुक्त हैं, एक परम पुरुष है जो परमात्मा है। उपनिषद् का श्लोक इस प्रकार है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*। सारांश यह है कि बद्ध तथा मुक्त दोनों प्रकार के जीवों में से एक परम पुरुष भगवान् होता है, जो उन सबका पालन करता है और उन्हें उनके कर्मों के अनुसार भोग की सुविधा प्रदान

करता है। वह भगवान् परमात्मा रूप में सबके हृदय में स्थित है। जो बुद्धिमान व्यक्ति उन्हें समझ सकता है, वही पूर्ण शान्ति-लाभ कर सकता है, अन्य कोई नहीं।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥

यस्मात्—चूँकि; **क्षरम्**—च्युत; **अतीतः**—दिव्य; **अहम्**—मैं हूँ; **अक्षरात्**—अक्षर से परे; **अपि**—भी; **च**—तथा; **उत्तमः**—सर्वश्रेष्ठ; **अतः**—अतएव; **अस्मि**—मैं हूँ; **लोके**—संसार में; **वेदे**—वैदिक साहित्य में; **च**—तथा; **प्रथितः**—विख्यात; **पुरुष-उत्तमः**—परम पुरुष के रूप में।

चूँकि मैं क्षर तथा अक्षर दोनों के परे हूँ और चूँकि मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, अतएव मैं इस जगत् में तथा वेदों में परम पुरुष के रूप में विख्यात हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण से बढ़कर कोई नहीं है—न तो बद्धजीव न मुक्त जीव। अतएव वे पुरुषोत्तम हैं। अब यह स्पष्ट हो चुका है कि जीव तथा भगवान् व्यष्टि हैं। अन्तर इतना है कि जीव चाहे बद्ध अवस्था में रहे या मुक्त अवस्था में, वह शक्ति में भगवान् की अकल्पनीय शक्तियों से बढ़कर नहीं हो सकता। यह सोचना गलत है कि भगवान् तथा जीव समान स्तर पर हैं या सब प्रकार से एकसमान हैं। इनके व्यक्तित्वों में सदैव श्रेष्ठता तथा निम्नता बनी रहती है। *उत्तम* शब्द अत्यन्त सार्थक है। भगवान् से बढ़कर कोई नहीं है।

लोके शब्द "*पौरुष आगम* (स्मृति-शास्त्र) में" के लिए आया है। जैसा कि निरुक्ति कोश में पुष्टि की गई है—*लोक्यते वेदार्थोऽनेन*—"वेदों का प्रयोजन स्मृति-शास्त्रों में विवेचित है।"

भगवान् के अन्तर्यामी परमात्मा स्वरूप का भी वेदों में वर्णन हुआ है। निम्नलिखित श्लोक वेदों में (*छान्दोग्य उपनिषद्* ८.१२.३) आया है—*तावदेष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः*। "शरीर से निकल कर परम आत्मा का प्रवेश निराकार *ब्रह्मज्योति* में होता है। तब वे अपने इस आध्यात्मिक स्वरूप में बने रहते हैं। यह परम आत्मा ही परम पुरुष कहलाता है।" इसका अर्थ यह हुआ कि परम पुरुष अपना आध्यात्मिक तेज प्रकट करते तथा प्रसारित करते रहते हैं और यही चरम प्रकाश है। उस परम पुरुष का एक स्वरूप है अन्तर्यामी परमात्मा। भगवान् सत्यवती तथा पराशर के पुत्ररूप में अवतार ग्रहण कर व्यासदेव के रूप में वैदिक ज्ञान की व्याख्या करते हैं।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१९॥

यः—जो; **माम्**—मुझको; **एवम्**—इस प्रकार; **असम्मूढः**—संशयरहित; **जानाति**—जानता है; **पुरुष-उत्तमम्**—भगवान्; **सः**—वह; **सर्व-वित्**—सब कुछ जानने वाला; **भजति**—भक्ति करता है; **माम्**—मुझको; **सर्व-भावेन**—सभी प्रकार से; **भारत**—हे भरतपुत्र।

जो कोई भी मुझे संशयरहित होकर पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानता है, वह सब कुछ जानने वाला है। अतएव हे भरतपुत्र! वह व्यक्ति मेरी पूर्ण भक्ति में रत होता है।

तात्पर्य : जीव तथा भगवान् की स्वाभाविक स्थिति के विषय में अनेक दार्शनिक ऊहापोह करते हैं। इस श्लोक में भगवान् स्पष्ट बताते हैं कि जो भगवान् कृष्ण को परम पुरुष के रूप में जानता है, वह सारी वस्तुओं का ज्ञाता है। अपूर्ण ज्ञाता परम सत्य के विषय में केवल चिन्तन करता जाता है, जबकि पूर्ण ज्ञाता समय का अपव्यय किये बिना सीधे कृष्णभावनामृत में लग जाता है, अर्थात् भगवान् की भक्ति करने लगता है। सम्पूर्ण *भगवद्गीता* में पग-पग पर इस तथ्य पर बल दिया गया है। फिर भी *भगवद्गीता* के ऐसे अनेक कट्टर भाष्यकार हैं, जो परमेश्वर तथा जीव को एक ही मानते हैं।

वैदिक ज्ञान *श्रुति* कहलाता है, जिसका अर्थ है श्रवण करके सीखना। वास्तव में वैदिक सूचना कृष्ण तथा उनके प्रतिनिधियों जैसे अधिकारियों से ग्रहण करनी चाहिए। यहाँ कृष्ण ने हर वस्तु का अंतर सुन्दर ढंग से बताया है, अतएव इसी स्रोत से सुनना चाहिए। लेकिन केवल सूकरों की तरह सुनना पर्याप्त नहीं है, मनुष्य को चाहिए कि अधिकारियों से समझे। ऐसा नहीं कि केवल शुष्क चिन्तन ही करता रहे। मनुष्य को विनीत भाव से *भगवद्गीता* से सुनना चाहिए कि सारे जीव सदैव भगवान् के अधीन हैं। जो भी इसे समझ लेता है, वही श्रीकृष्ण के कथनानुसार वेदों के प्रयोजन को समझता है, अन्य कोई नहीं समझता।

भजति शब्द अत्यन्त सार्थक है। कई स्थानों पर *भजति* का सम्बन्ध भगवान् की सेवा के अर्थ में व्यक्त हुआ है। यदि कोई व्यक्ति पूर्ण कृष्णभावनामृत में रत है, अर्थात् भगवान् की भक्ति करता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने सारा वैदिक ज्ञान समझ लिया है। वैष्णव *परम्परा* में यह कहा जाता है कि यदि कोई कृष्ण-भक्ति में लगा रहता है, तो उसे भगवान् को जानने के लिए किसी अन्य आध्यात्मिक विधि की आवश्यकता नहीं रहती। भगवान् की भक्ति करने के कारण वह पहले से लक्ष्य तक पहुँचा रहता है। वह ज्ञान की समस्त प्रारम्भिक विधियों को पार कर चुका होता है। लेकिन यदि कोई लाखों जन्मों तक चिन्तन करने पर भी इस लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाता कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं और उनकी ही शरण ग्रहण करनी चाहिए, तो उसका अनेक जन्मों का चिन्तन व्यर्थ जाता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

इति—इस प्रकार; **गुह्य-तमम्**—सर्वाधिक गुप्त; **शास्त्रम्**—शास्त्र; **इदम्**—यह; **उक्तम्**—प्रकट किया गया; **मया**—मेरे द्वारा; **अनघ**—हे पापरहित; **एतत्**—यह; **बुद्ध्वा**—समझ कर; **बुद्धिमान्**—बुद्धिमान; **स्यात्**—हो जाता है; **कृत-कृत्यः**—अपने प्रयत्नों में परम पूर्ण; **च**—तथा; **भारत**—हे भरतपुत्र।

हे अनघ! यह वैदिक शास्त्रों का सर्वाधिक गुप्त अंश है, जिसे मैंने अब प्रकट किया

है। जो कोई इसे समझता है, वह बुद्धिमान हो जाएगा और उसके प्रयास पूर्ण होंगे।

तात्पर्य : भगवान् ने यहाँ स्पष्ट किया है कि यही सारे शास्त्रों का सार है और भगवान् ने इसे जिस रूप में कहा है उसे उसी रूप में समझा जाना चाहिए। इस तरह मनुष्य बुद्धिमान तथा दिव्य ज्ञान में पूर्ण हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, भगवान् के इस दर्शन को समझने तथा उनकी दिव्य सेवा में प्रवृत्त होने से प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के गुणों के समस्त कल्मष से मुक्त हो सकता है। भक्ति आध्यात्मिक ज्ञान की एक विधि है। जहाँ भी भक्ति होती है, वहाँ भौतिक कल्मष नहीं रह सकता। भगवद्भक्ति तथा स्वयं भगवान् एक हैं, क्योंकि दोनों आध्यात्मिक हैं। भक्ति परमेश्वर की अन्तरंगा शक्ति के भीतर होती है। भगवान् सूर्य के समान हैं और अज्ञान अंधकार है। जहाँ सूर्य विद्यमान है, वहाँ अंधकार का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव जब भी प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन के अन्तर्गत भक्ति की जाती है, तो अज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि इस कृष्णभावनामृत को ग्रहण करे और बुद्धिमान तथा शुद्ध बनने के लिए भक्ति करे। जब तक कोई कृष्ण को इस प्रकार नहीं समझता और भक्ति में प्रवृत्त नहीं होता, तब तक सामान्य मनुष्य की दृष्टि में कोई कितना बुद्धिमान क्यों न हो, वह पूर्णतया बुद्धिमान नहीं है।

जिस *अनघ* शब्द से अर्जुन को सम्बोधित किया गया है, वह सार्थक है। अनघ अर्थात् "हे निष्पाप" का अर्थ है कि जब तक मनुष्य समस्त पापकर्मों से मुक्त नहीं हो जाता, तब तक कृष्ण को समझ पाना कठिन है। उसे समस्त कल्मष, समस्त पापकर्मों से मुक्त होना होता है, तभी वह समझ सकता है। लेकिन भक्ति इतनी शुद्ध तथा शक्तिमान् होती है कि एक बार भक्ति में प्रवृत्त होने पर मनुष्य स्वतः निष्पाप हो जाता है।

शुद्ध भक्तों की संगति में रहकर पूर्ण कृष्णभावनामृत में भक्ति करते हुए कुछ बातों को बिल्कुल ही दूर कर देना चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात जिस पर विजय पानी है, वह है हृदय की दुर्बलता। पहला पतन प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के कारण होता है। इस तरह मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति को त्याग देता है। दूसरी हृदय की दुर्बलता है कि जब कोई अधिकाधिक प्रभुत्व जताने की इच्छा करता है, तो वह भौतिक पदार्थ के स्वामित्व के प्रति आसक्त हो जाता है। इस संसार की सारी समस्याएँ इन्हीं हृदय की दुर्बलताओं के कारण हैं। इस अध्याय के प्रथम पाँच श्लोकों में हृदय की इन्हीं दुर्बलताओं से अपने को मुक्त करने की विधि का वर्णन हुआ है और छठे श्लोक से अन्तिम श्लोक तक *पुरुषोत्तम योग* की विवेचना हुई है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के पन्द्रहवें अध्याय "पुरुषोत्तम योग" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय सोलह

दैवी तथा आसुरी स्वभाव

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **अभयम्**—निर्भयता; **सत्त्व-संशुद्धिः**—अपने अस्तित्व की शुद्धि; **ज्ञान**—ज्ञान में; **योग**—संयुक्त होने की; **व्यवस्थितिः**—स्थिति; **दानम्**—दान; **दमः**—मन का निग्रह; **च**—तथा; **यज्ञः**—यज्ञ की सम्पन्नता; **च**—तथा; **स्वाध्यायः**—वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन; **तपः**—तपस्या; **आर्जवम्**—सरलता; **अहिंसा**—अहिंसा; **सत्यम्**—सत्यता; **अक्रोधः**—क्रोध से मुक्ति; **त्यागः**—त्याग;

शान्तिः—मनःशान्ति; **अपैशुनम्**—छिद्रान्वेषण से अरुचि; **दया**—करुणा; **भूतेषु**—समस्त जीवों के प्रति; **अलोलुप्त्वम्**—लोभ से मुक्ति; **मार्दवम्**—भद्रता; **ह्रीः**—लज्जा; **अचापलम्**—संकल्प; **तेजः**—तेज, बल; **क्षमा**—क्षमा; **धृतिः**—धैर्य; **शौचम्**—पवित्रता; **अद्रोहः**—ईर्ष्या से मुक्ति; **न**—नहीं; **अति-मानिता**—सम्मान की आशा; **भवन्ति**—हैं; **सम्पदम्**—गुण; **दैवीम्**—दिव्य स्वभाव; **अभिजातस्य**—उत्पन्न हुए का; **भारत**—हे भरतपुत्र।

भगवान् ने कहा—हे भरतपुत्र! निर्भयता, आत्मशुद्धि, आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन, दान, आत्म-संयम, यज्ञपरायणता, वेदाध्ययन, तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्यता, क्रोधविहीनता, त्याग, शान्ति, छिद्रान्वेषण में अरुचि, समस्त जीवों पर करुणा, लोभविहीनता, भद्रता, लज्जा, संकल्प, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, ईर्ष्या तथा सम्मान की अभिलाषा से मुक्ति—ये सारे दिव्य गुण हैं, जो दैवी प्रकृति से सम्पन्न देवतुल्य पुरुषों में पाये जाते हैं।

तात्पर्य : पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में इस भौतिक जगत् रूपी अश्वत्थ वृक्ष की व्याख्या की गई थी। उससे निकलने वाली अतिरिक्त जड़ों की तुलना जीवों के शुभ तथा अशुभ कर्मों से की गई थी। नवें अध्याय में भी *देवों* तथा *असुरों* का वर्णन हुआ है। अब, वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार, सतोगुण में किये गये सारे कार्य मुक्तिपथ में प्रगति करने के लिए शुभ माने जाते हैं और ऐसे कार्यों को दैवी प्रकृति कहा जाता है। जो लोग इस *दैवीप्रकृति* में स्थित होते हैं, वे मुक्ति के पथ पर अग्रसर होते हैं। इसके विपरीत उन लोगों के लिए, जो रजो तथा तमोगुण में रहकर कार्य करते हैं, मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं रहती। उन्हें या तो मनुष्य की तरह इसी भौतिक जगत् में रहना होता है या फिर वे पशुयोनि में या इससे भी निम्न योनियों में अवतरित होते हैं। इस सोलहवें अध्याय में भगवान् दैवीप्रकृति तथा उसके गुणों एवं आसुरी प्रकृति तथा उसके गुणों का समान रूप से वर्णन करते हैं। वे इन गुणों के लाभों तथा हानियों का भी वर्णन करते हैं।

दिव्यगुणों या दैवीप्रवृत्तियों से युक्त उत्पन्न व्यक्ति के प्रसंग में प्रयुक्त *अभिजातस्य* शब्द बहुत *सार-गर्भित* है। दैवी परिवेश में सन्तान उत्पन्न करने को वैदिक शास्त्रों में *गर्भाधान संस्कार* कहा गया है। यदि माता-पिता चाहते हैं कि दिव्यगुणों से युक्त सन्तान उत्पन्न हो, तो उन्हें सामाजिक जीवन में मनुष्यों के लिए बताये गये दस नियमों का पालन करना चाहिए। *भगवद्गीता* में हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के निमित्त मैथुन-जीवन साक्षात् कृष्ण है। मैथुन-जीवन गर्हित नहीं है, यदि इसका कृष्णभावनामृत में प्रयोग किया जाय। जो लोग कृष्णभावनामृत में हैं, कम से कम उन्हें तो कुत्ते-बिल्लियों की तरह सन्तानें उत्पन्न नहीं करनी चाहिए। उन्हें ऐसी सन्तानें उत्पन्न करनी चाहिए जो जन्म लेने के पश्चात् कृष्णभावनाभावित हो सकें। कृष्णभावनामृत में तल्लीन माता-पिता से उत्पन्न सन्तानों को इतना लाभ तो मिलना ही चाहिए।

वर्णाश्रमधर्म नामक सामाजिक संस्था—जो समाज को सामाजिक जीवन के चार विभागों एवं काम-धन्धों अथवा वर्णों के चार विभागों में विभाजित करती है—मानव समाज को जन्म के अनुसार विभाजित करने के उद्देश्य से नहीं है। ऐसा विभाजन शैक्षिक योग्यताओं के आधार पर किया जाता है। ये विभाजन समाज में शान्ति तथा सम्पन्नता

बनाये रखने के लिए हैं। यहाँ पर जिन गुणों का उल्लेख हुआ है, उन्हें दिव्य कहा गया है और वे आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करने वाले व्यक्तियों के निमित्त हैं, जिससे वे भौतिक जगत् से मुक्त हो सकें।

वर्णाश्रम संस्था में संन्यासी को समस्त सामाजिक वर्णों तथा आश्रमों में प्रधान या गुरु माना जाता है। ब्राह्मण को समाज के तीन वर्णों—क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों—का गुरु माना जाता है, लेकिन संन्यासी इस संस्था के शीर्ष पर होता है और ब्राह्मणों का भी गुरु माना जाता है। संन्यासी की पहली योग्यता निर्भयता होनी चाहिए। चूँकि संन्यासी को किसी सहायक के बिना एकाकी रहना होता है, अतएव भगवान् की कृपा ही उसका एकमात्र आश्रय होता है। जो यह सोचता है कि सारे सम्बन्ध तोड़ लेने के बाद मेरी रक्षा कौन करेगा, तो उसे संन्यास आश्रम स्वीकार नहीं करना चाहिए। उसे यह पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि कृष्ण या अन्तर्यामी स्वरूप परमात्मा सदैव अन्तर में रहते हैं, वे सब कुछ देखते रहते हैं और जानते हैं कि कोई क्या करना चाहता है। इस तरह मनुष्य को दृढविश्वास होना चाहिए कि परमात्मा स्वरूप कृष्ण शरणागत व्यक्ति की रक्षा करेंगे। उसे सोचना चाहिए "मैं कभी अकेला नहीं हूँ, भले ही मैं गहनतम जंगल में क्यों न रहूँ। मेरा साथ कृष्ण देंगे और सब तरह से मेरी रक्षा करेंगे।" ऐसा विश्वास *अभयम्* या निर्भयता कहलाता है। संन्यास आश्रम में व्यक्ति की ऐसी मनोदशा आवश्यक है।

तब उसे अपने अस्तित्व को शुद्ध करना होता है। संन्यास आश्रम में पालन किये जाने के लिए अनेक विधि-विधान हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि संन्यासी को किसी स्त्री के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। उसे एकान्त स्थान में स्त्री से बातें करने तक की मनाही है। भगवान् चैतन्य आदर्श संन्यासी थे और जब वे पुरी में रह रहे थे, तो उनकी भक्तिनों को उनके पास नमस्कार करने तक के लिए नहीं आने दिया जाता था। उन्हें दूर से ही प्रणाम करने के लिए आदेश था। यह स्त्री जाति के प्रति घृणाभाव का चिह्न नहीं था, अपितु संन्यासी पर लगाया गया प्रतिबन्ध था कि उसे स्त्रियों से निकट सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। मनुष्य को अपने अस्तित्व को शुद्ध बनाने के लिए जीवन की विशेष परिस्थिति (स्तर) में विधि-विधानों का पालन करना होता है। संन्यासी के लिए स्त्रियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए धन-संग्रह वर्जित हैं। आदर्श संन्यासी तो स्वयं भगवान् चैतन्य थे और उनके जीवन से हमें यह सीख लेनी चाहिए कि वे स्त्रियों के विषय में कितने कठोर थे। यद्यपि वे भगवान् के सबसे वदान्य अवतार माने जाते हैं, क्योंकि वे अधम से अधम बद्ध जीवों को स्वीकार करते थे, लेकिन जहाँ तक स्त्रियों की संगति का प्रश्न था, वे संन्यास आश्रम के विधि-विधानों का कठोरता के साथ पालन करते थे। उनका एक निजी पार्षद, छोटा हरिदास, अन्य पार्षदों के सहित उनके साथ निरन्तर रहा, लेकिन किसी कारणवश उसने एक तरुणी को कामुक दृष्टि से देखा। भगवान् चैतन्य इतने कठोर थे कि उन्होंने उसे अपने पार्षदों की संगति से तुरन्त बाहर निकाल दिया। भगवान् चैतन्य ने कहा, "जो संन्यासी या अन्य कोई व्यक्ति प्रकृति के चंगुल से छूटने का इच्छुक है और अपने को आध्यात्मिक प्रकृति तक ऊपर उठाना चाहता है तथा भगवान् के पास वापस जाना चाहता है, वह

यदि भौतिक सम्पत्ति तथा स्त्री की ओर इन्द्रियतृप्ति के लिए देखता है—भले ही वह उनका भोग न करे, केवल उनकी ओर इच्छा-दृष्टि से देखे, तो भी वह इतना गर्हित है कि उसके लिए श्रेयस्कर होगा कि वह ऐसी अवैध इच्छाएँ करने के पूर्व आत्महत्या कर ले।" इस तरह शुद्धि की ये विधियाँ हैं।

अगला गुण है, *ज्ञानयोग व्यवस्थिति*—ज्ञान के अनुशीलन में संलग्न रहना। संन्यासी का जीवन गृहस्थों तथा उन सबों को, जो आध्यात्मिक उन्नति के वास्तविक जीवन को भूल चुके हैं, ज्ञान वितरित करने के लिए होता है। संन्यासी से आशा की जाती है कि वह अपनी जीविका के लिए द्वार-द्वार भिक्षाटन करे, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह भिक्षुक है। विनयशीलता भी आध्यात्मिकता में स्थित मनुष्य की एक योग्यता है। संन्यासी मात्र विनयशीलता वश द्वार-द्वार जाता है, भिक्षाटन के उद्देश्य से नहीं जाता, अपितु गृहस्थों को दर्शन देने तथा उनमें कृष्णभावनामृत जगाने के लिए जाता है। यह संन्यासी का कर्तव्य है। यदि वह वास्तव में उन्नत है और उसे गुरु का आदेश प्राप्त है, तो उसे तर्क तथा ज्ञान द्वारा कृष्णभावनामृत का उपदेश करना चाहिए और यदि वह इतना उन्नत नहीं है, तो उसे संन्यास आश्रम ग्रहण नहीं करना चाहिए। लेकिन यदि किसी ने पर्याप्त ज्ञान के बिना ही संन्यास आश्रम स्वीकार कर लिया है, तो उसे ज्ञान अनुशीलन के लिए प्रामाणिक गुरु से श्रवण में रत होना चाहिए। संन्यासी को निर्भीक होना चाहिए, उसे *सत्त्वसंशुद्धि* तथा *ज्ञानयोग* में स्थित होना चाहिए।

अगला गुण *दान* है। दान गृहस्थों के लिए है। गृहस्थों को चाहिए कि वे निष्कपटता से जीवनयापन करना सीखें और कमाई का पचास प्रतिशत विश्व भर में कृष्णभावनामृत के प्रचार में खर्च करें। इस प्रकार से गृहस्थ को चाहिए कि ऐसे कार्य में लगे संस्थान-समितियों को दान दे। दान योग्य पात्र को दिया जाना चाहिए। जैसा आगे वर्णन किया जाएगा, दान भी कई तरह का होता है—यथा सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण में दिया गया दान। सतोगुण में दिये जाने वाले दान की संस्तुति शास्त्रों ने की है, लेकिन रजो तथा तमोगुण में दिये गये दान की संस्तुति नहीं है, क्योंकि यह धन का अपव्यय मात्र है। संसार भर में कृष्णभावनामृत के प्रसार हेतु ही दान दिया जाना चाहिए। ऐसा दान सतोगुणी होता है।

जहाँ तक दम (आत्मसंयम) का प्रश्न है, यह धार्मिक समाज के अन्य आश्रमों के ही लिए नहीं है, अपितु गृहस्थ के लिए विशेष रूप से है। यद्यपि उसके पत्नी होती है, लेकिन उसे चाहिए कि व्यर्थ ही अपनी इन्द्रियों को विषयभोग की ओर न मोड़े। गृहस्थों पर भी मैथुन-जीवन के लिए प्रतिबन्ध है और इसका उपयोग केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए किया जाना चाहिए। यदि वह सन्तान नहीं चाहता, तो उसे अपनी पत्नी के साथ विषय-भोग में लिप्त नहीं होना चाहिए। आधुनिक समाज मैथुन-जीवन का भोग करने के लिए निरोध-विधियों का या अन्य घृणित विधियों का उपयोग करता है, जिससे सन्तान का उत्तरदायित्व न उठाना पड़े। यह दिव्य गुण नहीं, अपितु आसुरी गुण है। यदि कोई व्यक्ति, चाहे वह गृहस्थ ही क्यों न हो, आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहता है, तो उसे अपने मैथुन-जीवन पर संयम रखना होगा और उसे ऐसी सन्तान नहीं उत्पन्न करनी चाहिए, जो कृष्ण की सेवा में काम न आए। यदि वह ऐसी सन्तान

उत्पन्न करता है, जो कृष्णभावनाभावित हो सके, तो वह सैकड़ों सन्तानें उत्पन्न कर सकता है। लेकिन ऐसी क्षमता के बिना किसी को इन्द्रियसुख के लिए काम-भोग में लिप्त नहीं होना चाहिए।

गृहस्थों को यज्ञ भी करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ के लिए पर्याप्त धन चाहिए। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम वालों के पास धन नहीं होता। वे तो भिक्षाटन करके जीवित रहते हैं। अतएव विभिन्न प्रकार के यज्ञ गृहस्थों के दायित्व हैं। उन्हें चाहिए कि वैदिक साहित्य द्वारा आदिष्ट अग्निहोत्र यज्ञ करें, लेकिन आज-कल ऐसे यज्ञ अत्यन्त खर्चीले हैं और हर किसी गृहस्थ के लिए इन्हें सम्पन्न कर पाना कठिन है। इस युग के लिए संस्तुत सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है—संकीर्तनयज्ञ। यह संकीर्तनयज्ञ—*हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे*—का जप सर्वोत्तम और सबसे कम खर्च वाला यज्ञ है और प्रत्येक व्यक्ति इसे करके लाभ उठा सकता है। अतएव दान, इन्द्रियसंयम तथा यज्ञ करना—ये तीन बातें गृहस्थ के लिए हैं।

स्वाध्याय या वेदाध्ययन ब्रह्मचर्य आश्रम या विद्यार्थी जीवन के लिए है। ब्रह्मचारियों का स्त्रियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। उन्हें ब्रह्मचर्यजीवन बिताना चाहिए और आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन हेतु, अपना मन वेदों के अध्ययन में लगाना चाहिए। यही स्वाध्याय है।

तपस् या तपस्या वानप्रस्थों के लिए है। मनुष्य को जीवन भर गृहस्थ ही नहीं बने रहना चाहिए। उसे स्मरण रखना होगा कि जीवन के चार विभाग हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। अतएव गृहस्थ रहने के बाद उसे विरक्त हो जाना चाहिए। यदि कोई एक सौ वर्ष जीवित रहता है, तो उसे २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य, २५ वर्ष तक गृहस्थ, २५ वर्ष तक वानप्रस्थ तथा २५ वर्ष तक संन्यास का जीवन बिताना चाहिए। ये वैदिक धार्मिक अनुशासन के नियम हैं। गृहस्थ जीवन से विरक्त होने पर मनुष्य को शरीर, मन तथा वाणी का संयम बरतना चाहिए। यही तपस्या है। समग्र वर्णाश्रमधर्म समाज ही तपस्या के निमित्त है। तपस्या के बिना किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती। इस सिद्धान्त की संस्तुति न तो वैदिक साहित्य में की गई है, न *भगवद्गीता* में कि जीवन में तपस्या की आवश्यकता नहीं है और कोई कल्पनात्मक चिन्तन करता रहे तो सब कुछ ठीक हो जायगा। ऐसे सिद्धान्त तो उन दिखावटी अध्यात्मवादियों द्वारा बनाये जाते हैं, जो अधिक से अधिक अनुयायी बनाना चाहते हैं। यदि प्रतिबन्ध हों, विधि-विधान हों तो लोग इस प्रकार आकर्षित न हों। अतएव जो लोग धर्म के नाम पर अनुयायी चाहते हैं, वे केवल दिखावा करते हैं, वे अपने विद्यार्थियों के जीवनों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाते और न ही अपने जीवन पर। लेकिन वेदों में ऐसी विधि को स्वीकृति प्रदान नहीं की गई।

जहाँ तक ब्राह्मणों की सरलता (*आर्जवम्*) का सम्बन्ध है, इसका पालन न केवल किसी एक आश्रम में किया जाना चाहिए, अपितु चारों आश्रमों के प्रत्येक सदस्य को करना चाहिए चाहे वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रम में हो। मनुष्य को अत्यन्त सरल तथा सीधा होना चाहिए।

अहिंसा का अर्थ है किसी जीव के प्रगतिशील जीवन को न रोकना। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि शरीर के वध किये जाने के बाद भी आत्मा-स्फुलिंग नहीं

मरता, इसलिए इन्द्रियतृप्ति के लिए पशुवध करने में कोई हानि नहीं है। प्रचुर अन्न, फल तथा दुग्ध की पूर्ति होते हुए भी आजकल लोगों में पशुओं का मांस खाने की लत पड़ी हुई है। लेकिन पशुओं के वध की कोई आवश्यकता नहीं है। यह आदेश हर एक के लिए है। जब कोई विकल्प न रहे, तभी पशुवध किया जाय। लेकिन इसकी यज्ञ में बलि की जाय। जो भी हो, जब मानवता के लिए प्रचुर भोजन हो, तो जो लोग आध्यात्मिक साक्षात्कार में प्रगति करने के इच्छुक हैं, उन्हें पशुहिंसा नहीं करनी चाहिए। वास्तविक अहिंसा का अर्थ है कि किसी के प्रगतिशील जीवन को रोका न जाय। पशु भी अपने विकास काल में एक पशुयोनि से दूसरी पशुयोनि में देहान्तरण करके प्रगति करते हैं। यदि किसी विशेष पशु का वध कर दिया जाता है, तो उसकी प्रगति रुक जाती है। यदि कोई पशु किसी शरीर में बहुत दिनों से या वर्षों से रह रहा हो और उसे असमय ही मार दिया जाय तो उसे पुनः उसी जीवन में वापस आकर शेष दिन पूरे करने के बाद ही दूसरी योनि में जाना पड़ता है। अतएव अपने स्वाद की तुष्टि के लिए किसी की प्रगति को नहीं रोकना चाहिए। यही अहिंसा है।

सत्यम् का अर्थ है कि मनुष्य को अपने स्वार्थ के लिए सत्य को तोड़ना-मरोड़ना नहीं चाहिए। वैदिक साहित्य में कुछ अंश अत्यन्त कठिन हैं, लेकिन उनका अर्थ किसी प्रामाणिक गुरु से जानना चाहिए। वेदों को समझने की यही विधि है। श्रुति का अर्थ है, किसी अधिकारी से सुनना। मनुष्य को चाहिए कि अपने स्वार्थ के लिए कोई विवेचना न गढ़े। *भगवद्गीता* की अनेक टीकाएँ हैं, जिसमें मूलपाठ की गलत व्याख्या की गई है। शब्द का वास्तविक भावार्थ प्रस्तुत किया जाना चाहिए और इसे प्रामाणिक गुरु से ही सीखना चाहिए।

अक्रोध का अर्थ है, क्रोध को रोकना। यदि कोई क्षुब्ध बनावे तो भी सहिष्णु बने रहना चाहिए, क्योंकि एक बार क्रोध करने पर सारा शरीर दूषित हो जाता है। क्रोध रजोगुण तथा काम से उत्पन्न होता है। अतएव जो योगी है उसे क्रोध पर नियन्त्रण रखना चाहिए। *अपैशुनम्* का अर्थ है कि दूसरे के दोष न निकाले और व्यर्थ ही उन्हें सही न करे। निस्सन्देह चोर को चोर कहना छिद्रान्वेषण नहीं है, लेकिन निष्कपट व्यक्ति को चोर कहना उस व्यक्ति के लिए परम अपराध होगा जो आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहता है। *ह्री* का अर्थ है कि मनुष्य अत्यन्त लज्जाशील हो और कोई गर्हित कार्य न करे। *अचापलम्* या संकल्प का अर्थ है कि मनुष्य किसी प्रयास से विचलित या उदास न हो। किसी प्रयास में भले ही असफलता क्यों न मिले, किन्तु मनुष्य को उसके लिए खिन्न नहीं होना चाहिए। उसे धैर्य तथा संकल्प के साथ प्रगति करनी चाहिए।

यहाँ पर प्रयुक्त *तेजस्* शब्द क्षत्रियों के निमित्त है। क्षत्रियों को अत्यन्त बलशाली होना चाहिए, जिससे वे निर्बलों की रक्षा कर सकें। उन्हें अहिंसक होने का दिखावा नहीं करना चाहिए। यदि हिंसा की आवश्यकता पड़े, तो हिंसा दिखानी चाहिए। लेकिन जो व्यक्ति अपने शत्रु का दमन कर सकता है, उसे चाहिए कि कुछ विशेष परिस्थितियों में क्षमा कर दे। वह छोटे अपराधों के लिए क्षमा-दान कर सकता है।

शौचम् का अर्थ है पवित्रता, जो न केवल मन तथा शरीर की हो, अपितु व्यवहार में भी हो। यह विशेष रूप से वणिक वर्ग के लिए है। उन्हें चाहिए कि वे काला बाजारी

न करें। *नाति-मानिता* अर्थात् सम्मान की आशा न करना शूद्रों अर्थात् श्रमिक वर्ग के लिए है, जिन्हें वैदिक आदेशों के अनुसार चारों वर्णों में सबसे निम्न माना जाता है। उन्हें वृथा सम्मान या प्रतिष्ठा से फूलना नहीं चाहिए, बल्कि अपनी मर्यादा में बने रहना चाहिए। शूद्रों का कर्तव्य है कि सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए वे उच्चवर्णों का सम्मान करें।

यहाँ पर वर्णित छब्बीसों गुण दिव्य हैं। वर्णाश्रमधर्म के अनुसार इनका आचरण होना चाहिए। सारांश यह है कि भले ही भौतिक परिस्थितियाँ शोचनीय हों, यदि सभी वर्णों के लोग इन गुणों का अभ्यास करें, तो वे क्रमशः आध्यात्मिक अनुभूति के सर्वोच्च पद तक उठ सकते हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

दम्भः—अहंकार; **दर्पः**—घमण्ड; **अभिमानः**—गर्व; **च**—भी; **क्रोधः**—क्रोध, गुस्सा; **पारुष्यम्**—निष्ठुरता; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा; **अज्ञानम्**—अज्ञान; **च**—तथा; **अभिजातस्य**—उत्पन्न हुए के; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **सम्पदम्**—गुण; **आसुरीम्**—आसुरी प्रकृति।

हे पृथापुत्र! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञान—ये आसुरी स्वभाव वालों के गुण हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में नरक के राजमार्ग का वर्णन है। आसुरी स्वभाव वाले लोग धर्म तथा आत्मविद्या की प्रगति का आडम्बर रचना चाहते हैं, भले ही वे उनके सिद्धान्तों का पालन न करते हों। वे सदैव किसी शिक्षा या प्रचुर सम्पत्ति का अधिकारी होने का दर्प करते हैं। वे चाहते हैं कि अन्य लोग उनकी पूजा करें और सम्मान दिखलाएँ, भले ही वे सम्मान के योग्य न हों। वे छोटी-छोटी बातों पर क्रुद्ध हो जाते हैं खरी-खोटी सुनाते हैं और नम्रता से नहीं बोलते। वे यह नहीं जानते कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। वे अपनी इच्छानुसार, सनकवश, सारे कार्य करते हैं, वे किसी प्रमाण को नहीं मानते। वे ये आसुरी गुण तभी से प्राप्त करते हैं, जब वे अपनी माताओं के गर्भ में होते हैं और ज्यों-ज्यों वे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों ये अशुभ गुण प्रकट होते हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

दैवी—दिव्य; **सम्पत्**—सम्पत्ति; **विमोक्षाय**—मोक्ष के लिए; **निबन्धाय**—बन्धन के लिए; **आसुरी**—आसुरी गुण; **मता**—माने जाते हैं; **मा**—मत; **शुचः**—चिन्ता करो; **सम्पदम्**—सम्पत्ति; **दैवीम्**—दिव्य; **अभिजातः**—उत्पन्न; **असि**—हो; **पाण्डव**—हे पाण्डुपुत्र।

दिव्य गुण मोक्ष के लिए अनुकूल हैं और आसुरी गुण बन्धन दिलाने के लिए हैं। हे पाण्डुपुत्र! तुम चिन्ता मत करो, क्योंकि तुम दैवी गुणों से युक्त होकर जन्मे हो।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण अर्जुन को यह कह कर प्रोत्साहित करते हैं कि वह आसुरी गुणों के साथ नहीं जन्मा है। युद्ध में उसका सम्मिलित होना आसुरी नहीं है, क्योंकि वह उसके

गुण-दोषों पर विचार कर रहा था। वह यह विचार कर रहा था कि भीष्म तथा द्रोण जैसे प्रतिष्ठित महापुरुषों का वध किया जाये या नहीं, अतएव वह न तो क्रोध के वशीभूत होकर कार्य कर रहा था, न झूठी प्रतिष्ठा या निष्ठुरता के अधीन होकर। अतएव वह आसुरी स्वभाव का नहीं था। क्षत्रिय के लिए शत्रु पर बाण बरसाना दिव्य माना जाता है और ऐसे कर्तव्य से विमुख होना आसुरी। अतएव अर्जुन के लिए शोक (संताप) करने का कोई कारण न था। जो कोई भी जीवन के विभिन्न आश्रमों के विधानों का पालन करता है, वह दिव्य पद पर स्थित होता है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥

द्वौ—दो; **भूत-सर्गौ**—जीवों की सृष्टियाँ; **लोके**—संसार में; **अस्मिन्**—इस; **दैवः**—दैवी; **आसुरः**—आसुरी; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा; **दैवः**—दैवी; **विस्तरशः**—विस्तार से; **प्रोक्तः**—कहा गया; **आसुरम्**—आसुरी; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **मे**—मुझसे; **शृणु**—सुनो।

हे पृथापुत्र! इस संसार में सृजित प्राणी दो प्रकार के हैं—दैवी तथा आसुरी। मैं पहले ही विस्तार से तुम्हें दैवी गुण बतला चुका हूँ। अब मुझसे आसुरी गुणों के विषय में सुनो।

तात्पर्य : अर्जुन को यह कह कर कि वह दैवीगुणों से सम्पन्न होकर जन्मा है, भगवान् कृष्ण अब उसे आसुरी गुण बताते हैं। इस संसार में बद्धजीव दो श्रेणियों में बँटे हुए हैं। जो जीव दिव्यगुणों से सम्पन्न होते हैं, वे नियमित जीवन बिताते हैं, अर्थात् वे शास्त्रों तथा विद्वानों द्वारा बताये गये आदेशों का निर्वाह करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक शास्त्रों के अनुसार ही कर्तव्य निभाए, यह प्रकृति दैवी कहलाती है। जो शास्त्रविहित विधानों को नहीं मानता और अपनी सनक के अनुसार कार्य करता रहता है, वह आसुरी कहलाता है। शास्त्र के विधिविधानों के प्रति आज्ञा-भाव ही एकमात्र कसौटी है, अन्य नहीं। वैदिक साहित्य में उल्लेख है कि देवता तथा असुर दोनों ही प्रजापति से उत्पन्न हुए, अन्तर इतना ही है कि एक श्रेणी के लोग वैदिक आदेशों को मानते हैं और दूसरे नहीं मानते।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

प्रवृत्तिम्—ठीक से कर्म करना; **च**—भी; **निवृत्तिम्**—अनुचित ढंग से कर्म न करना; **च**—तथा; **जनाः**—लोग; **न**—कभी नहीं; **विदुः**—जानते; **आसुराः**—आसुरी गुण के; **न**—कभी नहीं; **शौचम्**—पवित्रता; **न**—न तो; **अपि**—भी; **च**—तथा; **आचारः**—आचरण; **न**—कभी नहीं; **सत्यम्**—सत्य; **तेषु**—उनमें; **विद्यते**—होता है।

जो आसुरी हैं, वे यह नहीं जानते कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। उनमें न तो पवित्रता, न उचित आचरण और न ही सत्य पाया जाता है।

तात्पर्य : प्रत्येक सभ्य मानव समाज में कुछ आचार-संहिताएँ होती हैं, जिनका प्रारम्भ से पालन करना होता है। विशेषतया आर्यगण, जो वैदिक सभ्यता को मानते हैं और अत्यन्त सभ्य माने जाते हैं, इनका पालन करते हैं। किन्तु जो शास्त्रीय आदेशों को नहीं मानते, वे असुर समझे जाते हैं। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है कि असुरगण न तो शास्त्रीय नियमों को जानते हैं, न उनमें इनके पालन करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। उनमें से अधिकांश इन नियमों को नहीं जानते और जो थोड़े से लोग जानते भी हैं, उनमें इनके पालन करने की प्रवृत्ति नहीं होती। उन्हें न तो वैदिक आदेशों में कोई श्रद्धा होती है, न ही वे उसके अनुसार कार्य करने के इच्छुक होते हैं। असुरगण न तो बाहर से, न भीतर से स्वच्छ होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि स्नान करके, दंतमंजन करके, बाल बना कर, वस्त्र बदल कर शरीर को स्वच्छ रखे। जहाँ तक आन्तरिक स्वच्छता की बात है, मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव ईश्वर के पवित्र नामों का स्मरण करे और *हरे कृष्ण* महामन्त्र का कीर्तन करे। असुरगण बाह्य तथा आन्तरिक स्वच्छता के इन नियमों को न तो चाहते हैं, न इनका पालन ही करते हैं।

जहाँ तक आचरण की बात है, मानव आचरण का मार्गदर्शन करने वाले अनेक विधि-विधान हैं, जैसे *मनु-संहिता*, जो मानवजाति का अधिनियम है। यहाँ तक कि आज भी सारे हिन्दू मनुसंहिता का ही अनुगमन करते हैं। इसी ग्रंथ से उत्तराधिकार तथा अन्य विधि सम्बन्धी बातें ग्रहण की जाती हैं। मनुसंहिता में स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री को स्वतन्त्रता न प्रदान की जाय। इसका अर्थ यह नहीं होता कि स्त्रियों को दासी बना कर रखा जाय। वे तो बालकों के समान हैं। बालकों को स्वतन्त्रता नहीं दी जाती, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे दास बना कर रखे जाते हैं। लेकिन असुरों ने ऐसे आदेशों की उपेक्षा कर दी है और वे सोचने लगे हैं कि स्त्रियों को पुरुषों के समान ही स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। लेकिन इससे संसार की सामाजिक स्थिति में सुधार नहीं हुआ। वास्तव में स्त्री को जीवन की प्रत्येक अवस्था में सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। उसके बाल्यकाल में पिता द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए, तारुण्य में पति द्वारा और बुढ़ापे में बड़े पुत्रों द्वारा। मनु-संहिता के अनुसार यही उचित सामाजिक आचरण है। लेकिन आधुनिक शिक्षा ने नारी जीवन का एक अतिरंजित अहंकारपूर्ण बोध उत्पन्न कर दिया है, अतएव अब विवाह एक कल्पना बन चुका है। स्त्री की नैतिक स्थिति भी अब बहुत अच्छी नहीं रह गई है। अतएव असुरगण कोई ऐसा उपदेश ग्रहण नहीं करते, जो समाज के लिए अच्छा हो। चूँकि वे महर्षियों के अनुभवों तथा उनके द्वारा निर्धारित विधि-विधानों का पालन नहीं करते, अतएव आसुरी लोगों की सामाजिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥८॥

असत्यम्—मिथ्या; **अप्रतिष्ठम्**—आधाररहित; **ते**—वे; **जगत्**—दृश्य जगत्; **आहुः**—कहते हैं; **अनीश्वरम्**—बिना नियामक के; **अपरस्पर**—बिना कारण के; **सम्भूतम्**—उत्पन्न; **किम्-अन्यत्**—अन्य कोई कारण नहीं है; **काम-हैतुकम्**—केवल काम के कारण।

वे कहते हैं कि यह जगत् मिथ्या है, इसका कोई आधार नहीं है और इसका नियमन किसी ईश्वर द्वारा नहीं होता। उनका कहना है कि यह कामेच्छा से उत्पन्न होता है और काम के अतिरिक्त कोई अन्य कारण नहीं है।

तात्पर्य : आसुरी लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह जगत् मायाजाल है। इसका न कोई कारण है, न कार्य, न नियामक, न कोई प्रयोजन—हर वस्तु मिथ्या है। उनका कहना है कि यह दृश्य जगत् आकस्मिक भौतिक क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं के कारण है। वे यह नहीं सोचते कि ईश्वर ने किसी प्रयोजन से इस संसार की रचना की है। उनका अपना सिद्धान्त है कि यह संसार अपने आप उत्पन्न हुआ है और यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि इसके पीछे किसी ईश्वर का हाथ है। उनके लिए आत्मा तथा पदार्थ में कोई अन्तर नहीं होता और वे परम आत्मा को स्वीकार नहीं करते। उनके लिए हर वस्तु पदार्थ मात्र है और यह पूरा जगत् मानो अज्ञान का पिण्ड हो। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु शून्य है और जो भी सृष्टि दिखती है, वह केवल दृष्टि-भ्रम के कारण है। वे इसे सच मान बैठते हैं कि विभिन्नता से पूर्ण यह सारी सृष्टि अज्ञान का प्रदर्शन है। जिस प्रकार स्वप्न में हम ऐसी अनेक वस्तुओं की सृष्टि कर सकते हैं, जिनका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं होता, अतएव जब हम जाग जाते हैं, तो देखते हैं कि सब कुछ स्वप्नमात्र था। लेकिन वास्तव में, यद्यपि असुर यह कहते हैं कि जीवन स्वप्न है, लेकिन वे इस स्वप्न को भोगने में बड़े कुशल होते हैं। अतएव वे ज्ञानार्जन करने के बजाय अपने स्वप्नलोक में अधिकाधिक उलझ जाते हैं। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार शिशु केवल स्त्रीपुरुष के सम्भोग का फल है, उसी तरह यह संसार बिना किसी आत्मा के उत्पन्न हुआ है। उनके लिए यह पदार्थ का संयोगमात्र है, जिसने जीवों को उत्पन्न किया, अतएव आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। जिस प्रकार अनेक जीवित प्राणी अकारण पसीने ही से (स्वेदज) तथा मृत शरीर से उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार यह सारा जीवित संसार दृश्य जगत् के भौतिक संयोगों से प्रकट हुआ है। अतएव प्रकृति ही इस संसार की कारणस्वरूपा है, इसका कोई अन्य कारण नहीं है। वे *भगवद्गीता* में कहे गये कृष्ण के इन वचनों को नहीं मानते—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—सारा भौतिक जगत् मेरे ही निर्देश के अन्तर्गत गतिशील है। दूसरे शब्दों में, असुरों को संसार की सृष्टि के विषय में पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है, प्रत्येक का अपना कोई न कोई सिद्धान्त है। उनके अनुसार शास्त्रों की कोई एक व्याख्या दूसरी व्याख्या के ही समान है, क्योंकि वे शास्त्रीय आदेशों के मानक ज्ञान में विश्वास नहीं करते।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

एताम्—इस; **दृष्टिम्**—दृष्टि को; **अवष्टभ्य**—स्वीकार करके; **नष्ट**—खोकर; **आत्मानः**—अपने आप; **अल्प-बुद्धयः**—अल्पज्ञानी; **प्रभवन्ति**—फूलते-फलते हैं; **उग्र-कर्माणः**—कष्टकारक कर्मों में प्रवृत्त; **क्षयाय**—विनाश के लिए; **जगतः**—संसार का; **अहिताः**—अनुपयोगी।

ऐसे निष्कर्षों का अनुगमन करते हुए आसुरी लोग, जिन्होंने आत्म-ज्ञान खो दिया

है और जो बुद्धिहीन हैं, ऐसे अनुपयोगी एवं भयावह कार्यों में प्रवृत्त होते हैं जो संसार का विनाश करने के लिए होता है।

तात्पर्य : आसुरी लोग ऐसे कार्यों में व्यस्त रहते हैं जिनसे संसार का विनाश हो जाये। भगवान् यहाँ कहते हैं कि वे कम बुद्धि वाले हैं। भौतिकवादी, जिन्हें ईश्वर का कोई बोध नहीं होता, सोचते हैं कि वे प्रगति कर रहे हैं। लेकिन *भगवद्गीता* के अनुसार वे बुद्धिहीन तथा समस्त विचारों से शून्य होते हैं। वे इस भौतिक जगत् का अधिक से अधिक भोग करने का प्रयत्न करते हैं, अतएव इन्द्रियतृप्ति के लिए वे कुछ न कुछ नया आविष्कार करते रहते हैं। ऐसे भौतिक आविष्कारों को मानवसभ्यता का विकास माना जाता है, लेकिन इसका दुष्परिणाम यह होता है कि लोग अधिकाधिक हिंसक तथा क्रूर होते जाते हैं—वे पशुओं के प्रति क्रूर हो जाते हैं और अन्य मनुष्यों के प्रति भी। उन्हें इसका कोई ज्ञान नहीं कि एक दूसरे से किस प्रकार व्यवहार किया जाय। आसुरी लोगों में पशुवध अत्यन्त प्रधान होता है। ऐसे लोग संसार के शत्रु समझे जाते हैं, क्योंकि वे अन्ततः ऐसा आविष्कार कर लेंगे या कुछ ऐसी सृष्टि कर देंगे जिससे सबका विनाश हो जाय। अप्रत्यक्षतः यह श्लोक नाभिकीय अस्त्रों के आविष्कार की पूर्व सूचना देता है, जिसका आज सारे विश्व को गर्व है। किसी भी क्षण युद्ध हो सकता है और ये परमाणु हथियार विनाशलीला उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसी वस्तुएँ संसार के विनाश के उद्देश्य से ही उत्पन्न की जाती हैं और यहाँ पर इसका संकेत किया गया है। ईश्वर के प्रति अविश्वास के कारण ही ऐसे हथियारों का आविष्कार मानव समाज में किया जाता है—वे संसार की शान्ति तथा सम्पन्नता के लिए नहीं होते।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

कामम्—काम, विषयभोग की; **आश्रित्य**—शरण लेकर; **दुष्पूरम्**—अपूरणीय, अतृप्त; **दम्भ**—गर्व; **मान**—तथा झूठी प्रतिष्ठा का; **मद-अन्विताः**—मद में चूर; **मोहात्**—मोह से; **गृहीत्वा**—ग्रहण करके; **असत्**—क्षणभंगुर; **ग्राहान्**—वस्तुओं को; **प्रवर्तन्ते**—फलते फूलते हैं; **अशुचि**—अपवित्र; **व्रताः**—व्रत लेने वाले।

कभी न संतुष्ट होने वाले काम का आश्रय लेकर तथा गर्व के मद एवं मिथ्या प्रतिष्ठा में डूबे हुए आसुरी लोग इस तरह मोहग्रस्त होकर सदैव क्षणभंगुर वस्तुओं के द्वारा अपवित्र कर्म का व्रत लिए रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर आसुरी मनोवृत्ति का वर्णन हुआ है। असुरों में काम कभी तृप्त नहीं होता। वे भौतिक भोग के लिए अपनी अतृप्त इच्छाएँ बढ़ाते चले जाते हैं। यद्यपि वे क्षणभंगुर वस्तुओं को स्वीकार करने के कारण सदैव चिन्तामग्न रहते हैं, तो भी वे मोहवश ऐसे कार्य करते जाते हैं। उन्हें कोई ज्ञान नहीं होता, अतएव वे यह नहीं कह पाते कि वे गलत दिशा में जा रहे हैं। क्षणभंगुर वस्तुओं को स्वीकार करने के कारण वे अपना निजी ईश्वर निर्माण कर लेते हैं, अपने निजी मन्त्र बना लेते हैं और तदनुसार कीर्तन करते हैं। इसका फल यह होता है कि वे दो वस्तुओं की ओर अधिकाधिक

आकृष्ट होते हैं—कामभोग तथा सम्पत्ति संचय। इस प्रसंग में *अशुचि-व्रताः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है 'अपवित्र व्रत'। ऐसे आसुरी लोग मद्य, स्त्रियों, द्यूत क्रीड़ा तथा मांसाहार के प्रति आसक्त होते हैं—ये ही उनकी अशुचि अर्थात् अपवित्र (गंदी) आदतें हैं। दर्प तथा अहंकार से प्रेरित होकर वे ऐसे धार्मिक सिद्धान्त बनाते हैं, जिनकी अनुमति वैदिक आदेश नहीं देते। यद्यपि ऐसे आसुरी लोग अत्यन्त निन्दनीय होते हैं, लेकिन संसार में कृत्रिम साधनों से ऐसे लोगों का झूठा सम्मान किया जाता है। यद्यपि वे नरक की ओर बढ़ते रहते हैं, लेकिन वे अपने को बहुत बड़ा मानते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥

चिन्ताम्—भय तथा चिन्ताओं का; **अपरिमेयाम्**—अपार; **च**—तथा; **प्रलय-अन्ताम्**—मरणकाल तक; **उपाश्रिताः**—शरणागत; **काम-उपभोग**—इन्द्रियतृप्ति; **परमाः**—जीवन का परम लक्ष्य; **एतावत्**—इतना; **इति**—इस प्रकार; **निश्चिताः**—निश्चित करके; **आशा-पाश**—आशा रूप बन्धन; **शतैः**—सैकड़ों के द्वारा; **बद्धाः**—बँधे हुए; **काम**—काम; **क्रोध**—तथा क्रोध में; **परायणाः**—सदैव स्थित; **ईहन्ते**—इच्छा करते हैं; **काम**—काम; **भोग**—इन्द्रियभोग; **अर्थम्**—के निमित्त; **अन्यायेन**—अवैध रूप से; **अर्थ**—धन का; **सञ्चयान्**—संग्रह।

उनका विश्वास है कि इन्द्रियों की तुष्टि ही मानव सभ्यता की मूल आवश्यकता है। इस प्रकार मरणकाल तक उनको अपार चिन्ता होती रहती है। वे लाखों इच्छाओं के जाल में बँधकर तथा काम और क्रोध में लीन होकर इन्द्रियतृप्ति के लिए अवैध ढंग से धनसंग्रह करते हैं।

तात्पर्य : आसुरी लोग मानते हैं कि इन्द्रियों का भोग ही जीवन का चरमलक्ष्य है और वे आमरण इसी विचारधारा को धारण किये रहते हैं। वे मृत्यु के बाद जीवन में विश्वास नहीं करते। वे यह नहीं मानते कि मनुष्य को इस जगत् में अपने कर्म के अनुसार विविध प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं। जीवन के लिए उनकी योजनाओं का अन्त नहीं होता और वे एक के बाद एक योजना बनाते रहते हैं जो कभी समाप्त नहीं होतीं। हमें ऐसे एक व्यक्ति की ऐसी आसुरी मनोवृत्ति का निजी अनुभव है, जो मरणकाल तक अपने वैद्य से अनुनय-विनय करता रहा कि वह किसी तरह उसके जीवन की अवधि चार वर्ष बढ़ा दे, क्योंकि उसकी योजनाएँ तब भी अधूरी थीं। ऐसे मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि वैद्य क्षणभर भी जीवन को नहीं बढ़ा सकता। जब मृत्यु का बुलावा आ जाता है, तो मनुष्य की इच्छा पर ध्यान नहीं दिया जाता। प्रकृति के नियम किसी को निश्चित अवधि के आगे क्षणभर भी भोग करने की अनुमति प्रदान नहीं करते।

आसुरी मनुष्य, जो ईश्वर या अपने अन्तर में स्थित परमात्मा में श्रद्धा नहीं रखता, केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए सभी प्रकार के पापकर्म करता रहता है। वह नहीं जानता कि उसके हृदय के भीतर एक साक्षी बैठा है। परमात्मा प्रत्येक जीवात्मा के कार्यों को

देखता रहता है। जैसा कि *उपनिषदों* में कहा गया है कि एक वृक्ष में दो पक्षी बैठे हैं, एक पक्षी कर्म करता हुआ टहनियों में लगे सुख-दुख रूपी फलों को भोग रहा है और दूसरा उसका साक्षी है। लेकिन आसुरी मनुष्य को न तो वैदिकशास्त्र का ज्ञान है, न कोई श्रद्धा है। अतएव वह इन्द्रियभोग के लिए कुछ भी करने के लिए अपने को स्वतन्त्र मानता है, उसे परिणाम की परवाह नहीं रहती।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

इदम्—यह; **अद्य**—आज; **मया**—मेरे द्वारा; **लब्धम्**—प्राप्त; **इमम्**—इसे; **प्राप्स्ये**—प्राप्त करूँगा; **मनः-रथम्**—इच्छित; **इदम्**—यह; **अस्ति**—है; **इदम्**—यह; **अपि**—भी; **मे**—मेरा; **भविष्यति**—भविष्य में बढ़ जायगा; **पुनः**—फिर; **धनम्**—धन; **असौ**—वह; **मया**—मेरे; **हतः**—मारा गया; **शत्रुः**—शत्रु; **हनिष्ये**—मारूँगा; **च**—भी; **अपरान्**—अन्यों को; **अपि**—निश्चय ही; **ईश्वरः**—प्रभु, स्वामी; **अहम्**—मैं हूँ; **अहम्**—मैं हूँ; **भोगी**—भोक्ता; **सिद्धः**—सिद्ध; **अहम्**—मैं हूँ; **बलवान्**—शक्तिशाली; **सुखी**—प्रसन्न; **आढ्यः**—धनी; **अभिजन-वान्**—कुलीन सम्बन्धियों से घिरा; **अस्मि**—मैं हूँ; **कः**—कौन; **अन्यः**—दूसरा; **अस्ति**—है; **सदृशः**—समान; **मया**—मेरे द्वारा; **यक्ष्ये**—मैं यज्ञ करूँगा; **दास्यामि**—दान दूँगा; **मोदिष्ये**—आमोद-प्रमोद मनाऊँगा; **इति**—इस प्रकार; **अज्ञान**—अज्ञानतावश; **विमोहिताः**—मोहग्रस्त।

आसुरी व्यक्ति सोचता है, आज मेरे पास इतना धन है और अपनी योजनाओं से मैं और अधिक धन कमाऊँगा। इस समय मेरे पास इतना है किन्तु भविष्य में यह बढ़कर और अधिक हो जायेगा। वह मेरा शत्रु है और मैंने उसे मार दिया है और मेरे अन्य शत्रु भी मार दिए जाएंगे। मैं सभी वस्तुओं का स्वामी हूँ। मैं भोक्ता हूँ। मैं सिद्ध, शक्तिमान् तथा सुखी हूँ। मैं सबसे धनी व्यक्ति हूँ और मेरे आसपास मेरे कुलीन सम्बन्धी हैं। कोई अन्य मेरे समान शक्तिमान तथा सुखी नहीं है। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और इस तरह आनन्द मनाऊँगा। इस प्रकार ऐसे व्यक्ति अज्ञानवश मोहग्रस्त होते रहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

अनेक—कई; **चित्त**—चिन्ताओं से; **विभ्रान्ताः**—उद्विग्न; **मोह**—मोह में; **जाल**—जाल से; **समावृताः**—घिरे हुए; **प्रसक्ताः**—आसक्त; **काम-भोगेषु**—इन्द्रियतृप्ति में; **पतन्ति**—गिर जाते हैं; **नरके**—नरक में; **अशुचौ**—अपवित्र।

इस प्रकार अनेक चिन्ताओं से उद्विग्न होकर तथा मोहजाल में बँधकर वे इन्द्रियभोग में अत्यधिक आसक्त हो जाते हैं और नरक में गिरते हैं।

तात्पर्य : आसुरी व्यक्ति धन अर्जित करने की इच्छा की कोई सीमा नहीं जानता। उसकी इच्छा असीम बनी रहती है। वह केवल यही सोचता रहता है कि उसके पास इस समय कितनी सम्पत्ति है और ऐसी योजना बनाता है कि सम्पत्ति का संग्रह बढ़ता ही जाय। इसीलिए वह किसी भी पापपूर्ण साधन को अपनाने में झिझकता नहीं और अवैध तृप्ति के लिए कालाबाजारी करता है। वह पहले से अपनी अधिकृत सम्पत्ति, यथा भूमि, परिवार, घर तथा बैंक पूँजी पर मुग्ध रहता है और उनमें वृद्धि के लिए सदैव योजनाएँ बनाता रहता है। उसे अपनी शक्ति पर ही विश्वास रहता है और वह यह नहीं जानता कि उसे जो लाभ हो रहा है वह उसके पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों का फल है। उसे ऐसी वस्तुओं का संचय करने का अवसर इसीलिए मिला है, लेकिन उसे पूर्वजन्म के कारणों का कोई बोध नहीं होता। वह यही सोचता है कि उसकी सारी सम्पत्ति उसके निजी उद्योग से है। आसुरी व्यक्ति अपने बाहु-बल पर विश्वास करता है, कर्म के नियम पर नहीं। कर्म-नियम के अनुसार पूर्वजन्म में उत्तम कर्म करने के फलस्वरूप मनुष्य उच्चकुल में जन्म लेता है, या धनवान बनता है या सुशिक्षित बनता है, या बहुत सुन्दर शरीर प्राप्त करता है। आसुरी व्यक्ति सोचता है कि ये चीजें आकस्मिक हैं और उसके बाहुबल (सामर्थ्य) के फलस्वरूप हैं। उसे विभिन्न प्रकार के लोगों, सुन्दरता तथा शिक्षा के पीछे किसी प्रकार की योजना (व्यवस्था) नहीं प्रतीत होती। ऐसे आसुरी मनुष्य की प्रतियोगिता में जो भी सामने आता है, वह उसका शत्रु बन जाता है। ऐसे अनेक आसुरी व्यक्ति होते हैं और इनमें से प्रत्येक अन्यों का शत्रु होता है। यह शत्रुता पहले मनुष्यों के बीच, फिर परिवारों के बीच, तब समाजों में और अन्ततः राष्ट्रों के बीच बढ़ती जाती है। अतएव विश्वभर में निरन्तर संघर्ष, युद्ध तथा शत्रुता बनी हुई है।

प्रत्येक आसुरी व्यक्ति सोचता है कि वह अन्य सभी लोगों की बलि करके रह सकता है। सामान्यतया ऐसा व्यक्ति स्वयं को परम ईश्वर मानता है और आसुरी उपदेशक अपने अनुयायियों से कहता है कि, "तुम लोग ईश्वर को अन्यत्र क्यों ढूँढ रहे हो? तुम स्वयं अपने ईश्वर हो! तुम जो चाहो सो कर सकते हो। ईश्वर पर विश्वास मत करो। ईश्वर को दूर करो। ईश्वर मृत है।" ये ही आसुरी लोगों के उपदेश हैं।

यद्यपि आसुरी मनुष्य अन्यों को अपने ही समान या अपने से बढ़कर धनी तथा प्रभावशाली देखता है, तो भी वह सोचता है कि उससे बढ़कर न तो कोई धनी है और न प्रभावशाली। जहाँ तक उच्चलोकों में जाने की बात है वे यज्ञों को सम्पन्न करने में विश्वास नहीं करते। वे सोचते हैं कि वे अपनी यज्ञ-विधि का निर्माण करेंगे और कोई ऐसी मशीन बना लेंगे जिससे वे किसी भी उच्चलोक तक पहुँच जाएँगे। ऐसे आसुरी व्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण रावण था। उसने लोगों के समक्ष ऐसी योजना प्रस्तुत की थी, जिसके द्वारा वह एक ऐसी सीढ़ी बनाने वाला था, जिससे कोई भी व्यक्ति वेदों में वर्णित यज्ञों को सम्पन्न किये बिना स्वर्गलोक को जा सकता था। उसी प्रकार से आधुनिक युग के ऐसे ही आसुरी लोग यान्त्रिक विधि से उच्चतर लोकों तक पहुँचने

का प्रयास कर रहे हैं। ये सब मोह के उदाहरण हैं। परिणाम यह होता है कि बिना जाने हुए वे नरक की ओर बढ़ते जाते हैं। यहाँ पर *मोहजाल* शब्द अत्यन्त सार्थक है। जाल का तात्पर्य है मनुष्य मछली की भाँति मोह रूपी जाल में फँस कर उससे निकल नहीं पाता।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

आत्म-सम्भाविताः—अपने को श्रेष्ठ मानने वाले; **स्तब्धाः**—घमण्डी; **धन-मान**—धन तथा झूठी प्रतिष्ठा के; **मद**—मद में; **अन्विताः**—लीन; **यजन्ते**—यज्ञ करते हैं; **नाम**—नाम मात्र के लिए; **यज्ञैः**—यज्ञों के द्वारा; **ते**—वे; **दम्भेन**—घमंड से; **अविधि-पूर्वकम्**—विधि-विधानों का पालन किये बिना।

अपने को श्रेष्ठ मानने वाले तथा सदैव घमंड करने वाले, सम्पत्ति तथा मिथ्या प्रतिष्ठा से मोहग्रस्त लोग किसी विधि-विधान का पालन न करते हुए कभी-कभी नाममात्र के लिए बड़े ही गर्व के साथ यज्ञ करते हैं।

तात्पर्य : अपने को सब कुछ मानते हुए, किसी प्रमाण या शास्त्र की परवाह न करके आसुरी लोग कभी-कभी तथाकथित धार्मिक या याज्ञिक अनुष्ठान करते हैं। चूँकि वे किसी प्रमाण में विश्वास नहीं करते, अतएव वे अत्यन्त घमंडी होते हैं। थोड़ी सी सम्पत्ति तथा झूठी प्रतिष्ठा पा लेने के कारण जो मोह (भ्रम) उत्पन्न होता है, उसी के कारण ऐसा होता है। कभी-कभी ऐसे असुर उपदेशक की भूमिका निभाते हैं, लोगों को भ्रान्त करते हैं और धार्मिक सुधारक या ईश्वर के अवतारों के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं। वे यज्ञ करने का दिखावा करते हैं, या देवताओं की पूजा करते हैं, या अपने निजी ईश्वर की सृष्टि करते हैं। सामान्य लोग उनका प्रचार ईश्वर कह कर करते हैं, उन्हें पूजते हैं और मूर्ख लोग उन्हें धर्म या आध्यात्मिक ज्ञान के सिद्धान्तों में बढ़ा-चढ़ा मानते हैं। वे संन्यासी का वेश धारण कर लेते हैं और उस वेश में सभी प्रकार का अधर्म करते हैं। वास्तव में इस संसार से विरक्त होने वाले पर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। लेकिन ये असुर इन प्रतिबन्धों की परवाह नहीं करते। वे सोचते हैं जो भी मार्ग बना लिया जाय, वही अपना मार्ग है। उनके समक्ष आदर्श मार्ग जैसी कोई वस्तु नहीं, जिस पर चला जाय। यहाँ पर *अविधिपूर्वकम्* शब्द पर बल दिया गया है जिसका अर्थ है विधि-विधानों की परवाह न करते हुए। ये सारी बातें सदैव अज्ञान तथा मोह के कारण होती हैं।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

अहङ्कारम्—मिथ्या अभिमान; **बलम्**—बल; **दर्पम्**—घमंड; **कामम्**—काम, विषयभोग; **क्रोधम्**—क्रोध; **च**—भी; **संश्रिताः**—शरणागत, आश्रय लेते हुए; **माम्**—मुझको; **आत्म**—अपने; **पर**—तथा पराये; **देहेषु**—शरीरों में; **प्रद्विषन्तः**—निन्दा करते हुए; **अभ्यसूयकाः**—ईर्ष्यालु।

मिथ्या अहंकार, बल, दर्प, काम तथा क्रोध से मोहित होकर आसुरी व्यक्ति अपने

शरीर में तथा अन्यों के शरीर में स्थित भगवान् से ईर्ष्या और वास्तविक धर्म की निन्दा करने लगते हैं।

तात्पर्य : आसुरी व्यक्ति भगवान् की श्रेष्ठता का विरोधी होने के कारण शास्त्रों में विश्वास करना पसन्द नहीं करता। वह शास्त्रों तथा भगवान् के अस्तित्व इन दोनों से ही ईर्ष्या करता है। यह ईर्ष्या उसकी तथाकथित प्रतिष्ठा तथा धन एवं शक्ति के संग्रह से उत्पन्न होती है। वह यह नहीं जानता कि वर्तमान जीवन अगले जीवन की तैयारी है। इसे न जानते हुए वह वास्तव में अपने प्रति तथा अन्यों के प्रति भी द्वेष करता है। वह अन्य जीवधारियों की तथा स्वयं अपनी हिंसा करता है। वह भगवान् के परम नियन्त्रण की चिन्ता नहीं करता, क्योंकि उसे ज्ञान नहीं होता। शास्त्रों तथा भगवान् से ईर्ष्या करने के कारण वह ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध झूठे तर्क प्रस्तुत करता है और शास्त्रीय प्रमाण को अस्वीकार करता है। वह प्रत्येक कार्य में अपने को स्वतन्त्र तथा शक्तिमान मानता है। वह सोचता है कि कोई भी शक्ति, बल या सम्पत्ति में उसकी समता नहीं कर सकता, अतः वह चाहे जिस तरह कर्म करे, उसे कोई रोक नहीं सकता। यदि उसका कोई शत्रु उसे ऐन्द्रिय कार्यों में आगे बढ़ने से रोकता है, तो वह उसे अपनी शक्ति से छिन्न-भिन्न करने की योजनाएँ बनाता है।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

तान्—उन; **अहम्**—मैं; **द्विषतः**—ईर्ष्यालु; **क्रूरान्**—शरारती लोगों को; **संसारेषु**—भवसागर में; **नर-अधमान्**—अधम मनुष्यों को; **क्षिपामि**—डालता हूँ; **अजस्रम्**—सदैव; **अशुभान्**—अशुभ; **आसुरीषु**—आसुरी; **एव**—निश्चय ही; **योनिषु**—गर्भ में।

जो लोग ईर्ष्यालु तथा क्रूर हैं और नराधम हैं, उन्हें मैं निरन्तर विभिन्न आसुरी योनियों में, भवसागर में डालता रहता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट इंगित हुआ है कि किसी जीव को किसी विशेष शरीर में रखने का परमेश्वर को विशेष अधिकार प्राप्त है। आसुरी लोग भले ही भगवान् की श्रेष्ठता को न स्वीकार करें और वे अपनी निजी सनकों के अनुसार कर्म करें, लेकिन उनका अगला जन्म भगवान् के निर्णय पर निर्भर करेगा, उन पर नहीं। *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध में कहा गया है कि मृत्यु के बाद जीव को माता के गर्भ में रखा जाता है, जहाँ उच्च शक्ति के निरीक्षण में उसे विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। यही कारण है कि संसार में जीवों की इतनी योनियाँ प्राप्त होती हैं—यथा पशु, कीट, मनुष्य आदि। ये सब परमेश्वर द्वारा व्यवस्थित हैं। ये अकस्मात् नहीं आईं। जहाँ तक असुरों की बात है, यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि ये असुरों के गर्भ में निरन्तर रखे जाते हैं। इस प्रकार ये ईर्ष्यालु बने रहते हैं और मानवों में अधम हैं। ऐसे आसुरी योनि वाले मनुष्य सदैव काम से पूरित रहते हैं, सदैव उग्र, घृणास्पद तथा अपवित्र होते हैं। जंगलों के अनेक शिकारी मनुष्य आसुरी योनि से सम्बन्धित माने जाते हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

आसुरीम्—आसुरी; **योनिम्**—योनि को; **आपन्नाः**—प्राप्त हुए; **मूढाः**—मूर्ख; **जन्मनि जन्मनि**—जन्मजन्मान्तर में; **माम्**—मुझ को; **अप्राप्य**—पाये बिना; **एव**—निश्चय ही; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **ततः**—तत्पश्चात्; **यान्ति**—जाते हैं; **अधमाम्**—अधम, निन्दित; **गतिम्**—गन्तव्य को।

हे कुन्तीपुत्र! ऐसे व्यक्ति आसुरी योनि में बारम्बार जन्म ग्रहण करते हुए कभी भी मुझ तक पहुँच नहीं पाते। वे धीरे-धीरे अत्यन्त अधम गति को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : यह विख्यात है कि ईश्वर अत्यन्त दयालु हैं, लेकिन यहाँ पर हम देखते हैं कि वे असुरों पर कभी भी दया नहीं करते। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि आसुरी लोगों को जन्मजन्मान्तर तक उनके समान असुरों के गर्भ में रखा जाता है और ईश्वर की कृपा प्राप्त न होने से उनका अधःपतन होता रहता है, जिससे अन्त में उन्हें कुत्तों, बिल्लियों तथा सूकरों जैसा शरीर मिलता है। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि ऐसे असुर जीवन की किसी भी अवस्था में ईश्वर की कृपा के भाजन नहीं बन पाते। *वेदों* में भी कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति अधःपतन होने पर कूकर-सूकर बनते हैं। इस प्रसंग में यह तर्क किया जा सकता है कि यदि ईश्वर ऐसे असुरों पर कृपालु नहीं हैं तो उन्हें सर्वकृपालु क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि *वेदान्तसूत्र* से पता चलता है कि परमेश्वर किसी से घृणा नहीं करते। असुरों को निम्नतम (अधम) योनि में रखना उनकी कृपा की अन्य विशेषता है। कभी-कभी परमेश्वर असुरों का वध करते हैं, लेकिन यह वध भी उनके लिए कल्याणकारी होता है, क्योंकि वैदिक साहित्य से पता चलता है कि जिस किसी का वध परमेश्वर द्वारा होता है, उसको मुक्ति मिल जाती है। इतिहास में ऐसे असुरों के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं—यथा रावण, कंस, हिरण्यकशिपु, जिन्हें मारने के लिए भगवान् ने विविध अवतार धारण किये। अतएव असुरों पर ईश्वर की कृपा तभी होती है, जब वे इतने भाग्यशाली होते हैं कि ईश्वर उनका वध करें।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

त्रिविधम्—तीन प्रकार का; **नरकस्य**—नरक का; **इदम्**—यह; **द्वारम्**—द्वार; **नाशनम्**—विनाशकारी; **आत्मनः**—आत्मा का; **कामः**—काम; **क्रोधः**—क्रोध; **तथा**—और; **लोभः**—लोभ; **तस्मात्**—अतएव; **एतत्**—इन; **त्रयम्**—तीनों को; **त्यजेत्**—त्याग देना चाहिए।

इस नरक के तीन द्वार हैं—काम, क्रोध तथा लोभ। प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि इन्हें त्याग दे, क्योंकि इनसे आत्मा का पतन होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर आसुरी जीवन आरम्भ होने का वर्णन हुआ है। मनुष्य अपने काम को तुष्ट करना चाहता है, किन्तु जब उसे पूरा नहीं कर पाता तो क्रोध तथा लोभ उत्पन्न होता है। जो बुद्धिमान मनुष्य आसुरी योनि में नहीं गिरना चाहता, उसे चाहिए कि वह

इन तीनों शत्रुओं का परित्याग कर दे, क्योंकि ये आत्मा का हनन इस हद तक कर देते हैं कि इस भवबन्धन से मुक्ति की सम्भावना नहीं रह जाती।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

एतैः—इनसे; **विमुक्तः**—मुक्त होकर; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **तमः-द्वारैः**—अज्ञान के द्वारों से; **त्रिभिः**—तीन प्रकार के; **नरः**—व्यक्ति; **आचरति**—करता है; **आत्मनः**—अपने लिए; **श्रेयः**—मंगल, कल्याण; **ततः**—तत्पश्चात्; **याति**—जाता है; **पराम्**—परम; **गतिम्**—गन्तव्य को।

हे कुन्तीपुत्र! जो व्यक्ति इन तीनों नरक-द्वारों से बच पाता है, वह आत्म-साक्षात्कार के लिए कल्याणकारी कार्य करता है और इस प्रकार क्रमशः परम गति को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : मनुष्य को मानव-जीवन के तीन शत्रुओं—काम, क्रोध तथा लोभ—से अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। जो व्यक्ति जितना ही इन तीनों से मुक्त होगा, उतना ही उसका जीवन शुद्ध होगा। तब वह वैदिक साहित्य में आदिष्ट विधि-विधानों का पालन कर सकता है। इस प्रकार मानव जीवन के विधि-विधानों का पालन करते हुए वह अपने आपको धीरे-धीरे आत्म-साक्षात्कार के पद पर प्रतिष्ठित कर सकता है। यदि वह इतना भाग्यशाली हुआ कि इस अभ्यास से कृष्णभावनामृत के पद तक उठ सके तो उसकी सफलता निश्चित है। वैदिक साहित्य में कर्म तथा कर्मफल की विधियों का आदेश है, जिससे मनुष्य शुद्धि की अवस्था (संस्कार) तक पहुँच सके। सारी विधि काम, क्रोध तथा लोभ के परित्याग पर आधारित है। इस विधि का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के उच्चपद तक उठ सकता है और इस आत्म-साक्षात्कार की पूर्णता भक्ति में है। भक्ति में बद्धजीव की मुक्ति निश्चित है। इसीलिए वैदिक पद्धति के अनुसार चार आश्रमों तथा चार वर्णों का विधान किया गया है। विभिन्न जातियों (वर्णों) के लिए विभिन्न विधि-विधानों की व्यवस्था है। यदि मनुष्य उनका पालन कर पाता है, तो वह स्वतः ही आत्म-साक्षात्कार के सर्वोच्चपद को प्राप्त कर लेता है। तब उसकी मुक्ति में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

यः—जो; **शास्त्र-विधिम्**—शास्त्रों की विधियों को; **उत्सृज्य**—त्याग कर; **वर्तते**—करता रहता है; **काम-कारतः**—काम के वशीभूत होकर मनमाने ढंग से; **न**—कभी नहीं; **सः**—वह; **सिद्धिम्**—सिद्धि को; **अवाप्नोति**—प्राप्त करता है; **न**—कभी नहीं; **सुखम्**—सुख को; **न**—कभी नहीं; **पराम्**—परम; **गतिम्**—सिद्ध अवस्था को।

जो शास्त्रों के आदेशों की अवहेलना करता है और मनमाने ढंग से कार्य करता है, उसे न तो सिद्धि, न सुख, न ही परमगति की प्राप्ति हो पाती है।

तात्पर्य : जैसा कि पहले कहा जा चुका है मानव समाज के विभिन्न आश्रमों तथा वर्णों

के लिए शास्त्रविधि दी गयी है। प्रत्येक व्यक्ति को इन विधि-विधानों का पालन करना होता है। यदि कोई इनका पालन न करके काम, क्रोध और लोभवश स्वेच्छा से कार्य करता है, तो उसे जीवन में कभी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, भले ही मनुष्य ये सारी बातें सिद्धान्त के रूप में जानता रहे, लेकिन यदि वह इन्हें अपने जीवन में नहीं उतार पाता, तो वह अधम जाना जाता है। मनुष्ययोनि में जीव से आशा की जाती है कि वह बुद्धिमान बने और सर्वोच्चपद तक जीवन को ले जाने वाले विधानों का पालन करे। किन्तु यदि वह इनका पालन नहीं करता, तो उसका अध:पतन हो जाता है। लेकिन फिर भी जो विधि-विधानों तथा नैतिक सिद्धान्तों का पालन करता है, किन्तु अन्ततोगत्वा परमेश्वर को समझ नहीं पाता, तो उसका सारा ज्ञान व्यर्थ जाता है। और यदि वह ईश्वर के अस्तित्व को मान भी ले, किन्तु यदि वह भगवान् की सेवा नहीं करता, तो भी उसके प्रयास निष्फल हो जाते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपने आप को कृष्णभावनामृत तथा भक्ति के पद तक ऊपर ले जाये। तभी वह परम सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं।

काम-कारत: शब्द अत्यन्त सार्थक है। जो व्यक्ति जानबूझ कर नियमों का अतिक्रमण करता है, वह काम के वश में होकर कर्म करता है। वह जानता है कि ऐसा करना मना है, लेकिन फिर भी वह ऐसा करता है। इसी को स्वेच्छाचार कहते हैं। यह जानते हुए भी कि अमुक काम करना चाहिए, फिर भी वह उसे नहीं करता है, इसीलिए उसे स्वेच्छाचारी कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति अवश्य ही भगवान् द्वारा दंडित होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को मनुष्य जीवन की सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती। मनुष्य जीवन तो अपने आपको शुद्ध बनाने के लिए है, किन्तु जो व्यक्ति विधि-विधानों का पालन नहीं करता, वह अपने को न तो शुद्ध बना सकता है, न ही वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

तस्मात्—इसलिए; **शास्त्रम्**—शास्त्र; **प्रमाणम्**—प्रमाण; **ते**—तुम्हारा; **कार्य**—कर्तव्य; **अकार्य**—निषिद्ध कर्म; **व्यवस्थितौ**—निश्चित करने में; **ज्ञात्वा**—जानकर; **शास्त्र**—शास्त्र का; **विधान**—विधान; **उक्तम्**—कहा गया; **कर्म**—कर्म; **कर्तुम्**—करना; **इह**—इस संसार में; **अर्हसि**—तुम्हें चाहिए।

अतएव मनुष्य को यह जानना चाहिए कि शास्त्रों के विधान के अनुसार क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है। उसे ऐसे विधि-विधानों को जानकर कर्म करना चाहिए जिससे वह क्रमशः ऊपर उठ सके।

तात्पर्य : जैसा कि पन्द्रहवें अध्याय में कहा जा चुका है वेदों के सारे विधि-विधान कृष्ण को जानने के लिए हैं। यदि कोई *भगवद्गीता* से कृष्ण को जान लेता है और भक्ति में प्रवृत्त होकर कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है, तो वह वैदिक साहित्य द्वारा प्रदत्त ज्ञान की चरम सिद्धि तक पहुँच जाता है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इस विधि को अत्यन्त सरल बनाया—उन्होंने लोगों से केवल *हरे कृष्ण* महामन्त्र जपने तथा भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त होने और अर्चाविग्रह को अर्पित भोग का उच्छिष्ट खाने के लिए कहा। जो

व्यक्ति इन भक्तिकार्यों में संलग्न रहता है, उसे वैदिक साहित्य से अवगत और सारतत्त्व को प्राप्त हुआ माना जाता है। निस्सन्देह, उन सामान्य व्यक्तियों के लिए, जो कृष्णभावनाभावित नहीं हैं, या भक्ति में प्रवृत्त नहीं हैं, करणीय तथा अकरणीय कर्म का निर्णय वेदों के आदेशों के अनुसार किया जाना चाहिए। मनुष्य को तर्क किये बिना तदनुसार कर्म करना चाहिए। इसी को शास्त्र के नियमों का पालन करना कहा जाता है। शास्त्रों में वे चार मुख्य दोष नहीं पाये जाते, जो बद्धजीव में होते हैं। ये हैं—अपूर्ण इन्द्रियाँ, कपटता, त्रुटि करना तथा मोहग्रस्त होना। इन चार दोषों के कारण बद्धजीव विधि-विधान बनाने के लिए अयोग्य होता है, अतएव विधि-विधान, जिनका उल्लेख शास्त्र में होता है जो इन दोषों से परे होते हैं, सभी बड़े-बड़े महात्माओं, आचार्यों तथा महापुरुषों द्वारा बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार कर लिए जाते हैं।

भारत में आध्यात्मिक विद्या के कई दल हैं, जिन्हें प्राय: दो श्रेणियों में रखा जाता है—निराकारवादी तथा साकारवादी। दोनों ही दल वेदों के नियमों के अनुसार अपना जीवन बिताते हैं। शास्त्रों के नियमों का पालन किये बिना कोई सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव जो शास्त्रों के तात्पर्य को वास्तव में समझता है, वह भाग्यशाली माना जाता है।

मानवसमाज में समस्त पतनों का मुख्य कारण भागवतविद्या के नियमों के प्रति द्वेष है। यह मानवजीवन का सर्वोच्च अपराध है। अतएव भगवान् की भौतिक शक्ति अर्थात् माया त्रयतापों के रूप में हमें सदैव कष्ट देती रहती है। यह भौतिक शक्ति प्रकृति के तीन गुणों से बनी है। इसके पूर्व कि भगवान् के ज्ञान का मार्ग खुले, मनुष्य को कम से कम सतोगुण तक ऊपर उठना होता है। सतोगुण तक उठे बिना वह तमो तथा रजोगुणों में रहता है, जो आसुरी जीवन के कारणस्वरूप हैं। रजो तथा तमोगुणी व्यक्ति शास्त्रों, पवित्र मनुष्यों तथा भगवान् के समुचित ज्ञान की खिल्ली उड़ाते हैं। वे गुरु के आदेशों का उल्लंघन करते हैं और शास्त्रों के विधानों की परवाह नहीं करते। वे भक्ति की महिमा का श्रवण करके भी उसके प्रति आकृष्ट नहीं होते। इस प्रकार वे अपनी उन्नति का अपना निजी मार्ग बनाते हैं। मानव समाज के ये ही कतिपय दोष हैं, जिनके कारण आसुरी जीवन बिताना पड़ता है। किन्तु यदि उपयुक्त तथा प्रामाणिक गुरु का मार्गदर्शन प्राप्त हो जाता है, तो उसका जीवन सफल हो जाता है क्योंकि गुरु उच्चपद की ओर उन्नति का मार्ग दिखा सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय "दैवी तथा आसुरी स्वभाव" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

अध्याय सत्रह

श्रद्धा के विभाग

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥१॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **ये**—जो; **शास्त्र-विधिम्**—शास्त्रों के विधान को; **उत्सृज्य**—त्यागकर; **यजन्ते**—पूजा करते हैं; **श्रद्धया**—पूर्ण श्रद्धा से; **अन्विताः**—युक्त; **तेषाम्**—उनकी; **निष्ठा**—श्रद्धा; **तु**—लेकिन; **का**—कौनसी; **कृष्ण**—हे कृष्ण; **सत्त्वम्**—सतोगुणी; **आहो**—अथवा अन्य; **रजः**—रजोगुणी; **तमः**—तमोगुणी।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! जो लोग शास्त्र के नियमों का पालन न करके अपनी कल्पना के अनुसार पूजा करते हैं, उनकी स्थिति कौन सी है? वे सतोगुणी हैं, रजोगुणी हैं या तमोगुणी?

तात्पर्य : चतुर्थ अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक में कहा गया है कि किसी विशेष प्रकार की पूजा में निष्ठावान् व्यक्ति क्रमशः ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और शान्ति

तथा सम्पन्नता की सर्वोच्च सिद्धावस्था तक पहुँचता है। सोलहवें अध्याय में यह निष्कर्ष निकलता है कि जो शास्त्रों के नियमों का पालन नहीं करता, वह असुर है और जो निष्ठापूर्वक इन नियमों का पालन करता है, वह देव है। अब यदि कोई ऐसा निष्ठावान व्यक्ति हो, जो ऐसे कतिपय नियमों का पालन करता हो, जिनका शास्त्रों में उल्लेख न हो, तो उसकी स्थिति क्या होगी? अर्जुन के इस सन्देह का स्पष्टीकरण कृष्ण द्वारा होना है। क्या वे लोग जो किसी व्यक्ति को चुनकर उस पर किसी भगवान् के रूप में श्रद्धा दिखाते हैं, सतो, रजो या तमोगुण में पूजा करते हैं? क्या ऐसे व्यक्तियों को जीवन की सिद्धावस्था प्राप्त हो पाती है? क्या वे वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके उच्चतम सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो पाते हैं? जो लोग शास्त्रों के विधि-विधानों का पालन नहीं करते, किन्तु जिनकी किसी पर श्रद्धा होती है और जो देवी, देवताओं तथा मनुष्यों की पूजा करते हैं, क्या उन्हें सफलता प्राप्त होती है? अर्जुन इन प्रश्नों को श्रीकृष्ण से पूछ रहा है।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **त्रि-विधा**—तीन प्रकार की; **भवति**—होती है; **श्रद्धा**—श्रद्धा; **देहिनाम्**—देहधारियों की; **सा**—वह; **स्व-भाव-जा**—प्रकृति के गुण के अनुसार; **सात्त्विकी**—सतोगुणी; **राजसी**—रजोगुणी; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **तामसी**—तमोगुणी; **च**—तथा; **इति**—इस प्रकार; **ताम्**—उसको; **शृणु**—मुझसे सुनो।

भगवान् ने कहा—देहधारी जीव द्वारा अर्जित गुणों के अनुसार उसकी श्रद्धा तीन प्रकार की हो सकती है—सतोगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी। अब इसके विषय में मुझसे सुनो।

तात्पर्य : जो लोग शास्त्रों के विधि-विधानों को जानते हैं, लेकिन आलस्य या कार्यविमुखतावश इनका पालन नहीं करते, वे प्रकृति के गुणों द्वारा शासित होते हैं। वे अपने सतोगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी पूर्वकर्मों के अनुसार एक विशेष प्रकार का स्वभाव प्राप्त करते हैं। विभिन्न गुणों के साथ जीव की संगति शाश्वत चलती रही है। चूँकि जीव प्रकृति के संसर्ग में रहता है, अतएव वह प्रकृति के गुणों के अनुसार ही विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियाँ अर्जित करता है। लेकिन यदि कोई प्रामाणिक गुरु की संगति करता है और उसके तथा शास्त्रों के विधि-विधानों का पालन करता है, तो उसकी यह मनोवृत्ति बदल सकती है। वह क्रमशः अपनी स्थिति तमोगुण से सतोगुण या रजोगुण से सतोगुण में परिवर्तित कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति के किसी गुण विशेष में अंधविश्वास करने से ही व्यक्ति सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। उसे प्रामाणिक गुरु की संगति में रहकर बुद्धिपूर्वक बातों पर विचार करना होता है। तभी वह उच्चतर गुण की स्थिति को प्राप्त हो सकता है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

सत्त्व-अनुरूपा—अस्तित्व के अनुसार; **सर्वस्य**—सबों की; **श्रद्धा**—श्रद्धा, निष्ठा; **भवति**—हो जाती है; **भारत**—हे भरतपुत्र; **श्रद्धा**—श्रद्धा; **मयः**—से युक्त; **अयम्**—यह; **पुरुषः**—जीवात्मा; **यः**—जो; **यत्**—जिसके होने से; **श्रद्धः**—श्रद्धा; **सः**—इस प्रकार; **एव**—निश्चय ही; **सः**—वह।

हे भरतपुत्र! विभिन्न गुणों के अन्तर्गत अपने अपने अस्तित्व के अनुसार मनुष्य एक विशेष प्रकार की श्रद्धा विकसित करता है। अपने द्वारा अर्जित गुणों के अनुसार ही जीव को विशेष श्रद्धा से युक्त कहा जाता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति में चाहे वह जैसा भी हो, एक विशेष प्रकार की श्रद्धा पाई जाती है। लेकिन उसके द्वारा अर्जित स्वभाव के अनुसार उसकी श्रद्धा उत्तम (सतोगुणी), राजस (रजोगुणी) अथवा तामसी कहलाती है। इस प्रकार अपनी विशेष प्रकार की श्रद्धा के अनुसार ही वह कतिपय लोगों से संगति करता है। अब वास्तविक तथ्य तो यह है कि, जैसा पंद्रहवें अध्याय में कहा गया है, प्रत्येक जीव परमेश्वर का अंश है, अतएव वह मूलतः इन समस्त गुणों से परे होता है। लेकिन जब वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है और बद्ध जीवन में भौतिक प्रकृति के संसर्ग में आता है, तो वह विभिन्न प्रकार की प्रकृति के साथ संगति करके अपना स्थान बनाता है। इस प्रकार से प्राप्त कृत्रिम श्रद्धा तथा अस्तित्व मात्र भौतिक होते हैं। भले ही कोई किसी धारणा या देहात्मबोध द्वारा प्रेरित हो, लेकिन मूलतः वह निर्गुण या दिव्य होता है। अतएव भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध फिर से प्राप्त करने के लिए उसे भौतिक कल्मष से शुद्ध होना पड़ता है। यही एकमात्र मार्ग है, निर्भय होकर कृष्णभावनामृत में लौटने का। यदि कोई कृष्णभावनामृत में स्थित हो, तो उसका सिद्धि प्राप्त करने के लिए वह मार्ग प्रशस्त हो जाता है। यदि वह आत्म-साक्षात्कार के इस पथ को ग्रहण नहीं करता, तो वह निश्चित रूप से प्रकृति के गुणों के साथ बह जाता है।

इस श्लोक में *श्रद्धा* शब्द अत्यन्त सार्थक है। श्रद्धा मूलतः सतोगुण से उत्पन्न होती है। मनुष्य की श्रद्धा किसी देवता, किसी कृत्रिम ईश्वर या मनोधर्म में हो सकती है लेकिन प्रबल श्रद्धा सात्त्विक कार्यों से उत्पन्न होती है। किन्तु भौतिक बद्धजीवन में कोई भी कार्य पूर्णतया शुद्ध नहीं होता। वे सब मिश्रित होते हैं। वे शुद्ध सात्त्विक नहीं होते। शुद्ध सत्त्व दिव्य होता है, शुद्ध सत्त्व में रहकर मनुष्य भगवान् के वास्तविक स्वभाव को समझ सकता है। जब तक श्रद्धा पूर्णतया सात्त्विक नहीं होती, तब तक वह प्रकृति के किसी भी गुण से दूषित हो सकती है। प्रकृति के दूषित गुण हृदय तक फैल जाते हैं, अतएव किसी विशेष गुण के सम्पर्क में रहकर हृदय जिस स्थिति में होता है, उसी के अनुसार श्रद्धा स्थापित होती है। यह समझना चाहिए कि यदि किसी का हृदय सतोगुण में स्थित है, तो उसकी श्रद्धा भी सतोगुणी है। यदि हृदय रजोगुण में स्थित है, तो उसकी श्रद्धा रजोगुणी है और यदि हृदय तमोगुण में स्थित है तो उसकी श्रद्धा तमोगुणी होती है। इस प्रकार हमें संसार में विभिन्न प्रकार की श्रद्धाएँ मिलती हैं और विभिन्न प्रकार

की श्रद्धाओं के अनुसार विभिन्न प्रकार के धर्म होते हैं। धार्मिक श्रद्धा का असली सिद्धान्त सतोगुण में स्थित होता है। लेकिन चूँकि हृदय कलुषित रहता है, अतएव विभिन्न प्रकार के धार्मिक सिद्धान्त पाये जाते हैं। श्रद्धा की विभिन्नता के कारण ही पूजा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

यजन्ते—पूजते हैं; **सात्त्विकाः**—सतोगुण में स्थित लोग; **देवान्**—देवताओं को; **यक्ष-रक्षांसि**—असुरगण को; **राजसाः**—रजोगुण में स्थित लोग; **प्रेतान्**—मृतकों की आत्माओं को; **भूत-गणान्**—भूतों को; **च**—तथा; **अन्ये**—अन्य; **यजन्ते**—पूजते हैं; **तामसाः**—तमोगुण में स्थित; **जनाः**—लोग।

सतोगुणी व्यक्ति देवताओं को पूजते हैं, रजोगुणी यक्षों व राक्षसों की पूजा करते हैं और तमोगुणी व्यक्ति भूत-प्रेतों को पूजते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् विभिन्न बाह्य कर्मों के अनुसार पूजा करने वालों के प्रकार बता रहे हैं। शास्त्रों के आदेशानुसार केवल भगवान् ही पूजनीय हैं। लेकिन जो शास्त्रों के आदेशों से अभिज्ञ नहीं, या उन पर श्रद्धा नहीं रखते, वे अपनी गुण-स्थिति के अनुसार विभिन्न वस्तुओं की पूजा करते हैं। जो लोग सतोगुणी हैं, वे सामान्यतया देवताओं की पूजा करते हैं। इन देवताओं में ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता, यथा इन्द्र, चन्द्र तथा सूर्य सम्मिलित हैं। देवता कई हैं। सतोगुणी लोग किसी विशेष अभिप्राय से किसी विशेष देवता की पूजा करते हैं। इसी प्रकार जो रजोगुणी हैं, वे यक्ष-राक्षसों की पूजा करते हैं। हमें स्मरण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के समय कलकत्ता का एक व्यक्ति हिटलर की पूजा करता था, क्योंकि, भला हो उस युद्ध का, उसने उसमें काले धन्धे से प्रचुर धन संचित कर लिया था। इसी प्रकार जो रजोगुणी तथा तमोगुणी होते हैं, वे सामान्यतया किसी प्रबल मनुष्य को ईश्वर के रूप में चुन लेते हैं। वे सोचते हैं कि कोई भी व्यक्ति ईश्वर की तरह पूजा जा सकता है और फल एकसा होगा।

यहाँ पर इसका स्पष्ट वर्णन है कि रजोगुणी लोग ऐसे देवताओं की सृष्टि करके उन्हें पूजते हैं और जो तमोगुणी हैं—अंधकार में हैं—वे प्रेतों की पूजा करते हैं। कभी-कभी लोग किसी मृत प्राणी की कब्र पर पूजा करते हैं। मैथुन सेवा भी तमोगुणी मानी जाती है। इसी प्रकार भारत के सुदूर ग्रामों में भूतों की पूजा करने वाले हैं। हमने देखा है कि भारत के निम्नजाति के लोग कभी-कभी जंगल में जाते हैं और यदि उन्हें इसका पता चलता है कि कोई भूत किसी वृक्ष पर रहता है, तो वे उस वृक्ष की पूजा करते हैं और बलि चढ़ाते हैं। ये पूजा के विभिन्न प्रकार वास्तव में ईश्वर-पूजा नहीं हैं। ईश्वरपूजा तो सात्त्विक पुरुषों के लिए है। *श्रीमद्भागवत* में (४.३.२३) कहा गया है—*सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव-शब्दितम्*—जब व्यक्ति सतोगुणी होता है, तो वह वासुदेव की पूजा करता है। तात्पर्य यह है कि जो लोग गुणों से पूर्णतया शुद्ध हो चुके हैं और दिव्य पद को प्राप्त हैं, वे ही भगवान् की पूजा कर सकते हैं।

निर्विशेषवादी सतोगुण में स्थित माने जाते हैं और वे पंचदेवताओं की पूजा करते

हैं। वे भौतिक जगत में निराकार विष्णु को पूजते हैं, जो सिद्धान्तीकृत विष्णु कहलाता है। विष्णु भगवान् के विस्तार हैं, लेकिन निर्विशेषवादी अन्ततः भगवान् में विश्वास न करने के कारण सोचते हैं कि विष्णु का स्वरूप निराकार ब्रह्म का दूसरा पक्ष है। इसी प्रकार वे यह मानते हैं कि ब्रह्माजी रजोगुण के निराकार रूप हैं। अतः वे कभी-कभी पाँच देवताओं का वर्णन करते हैं, जो पूज्य हैं। लेकिन चूँकि वे लोग निराकार ब्रह्म को ही वास्तविक सत्य मानते हैं, इसलिए वे अन्ततः समस्त पूज्य वस्तुओं को त्याग देते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रकृति के विभिन्न गुणों को दिव्य प्रकृति वाले व्यक्तियों की संगति से शुद्ध किया जा सकता है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

अ-शास्त्र—जो शास्त्रों में नहीं है; **विहितम्**—निर्देशित; **घोरम्**—अन्यों के लिए हानिप्रद; **तप्यन्ते**—तप करते हैं; **ये**—जो लोग; **तपः**—तपस्या; **जनाः**—लोग; **दम्भ**—घमण्ड; **अहङ्कार**—तथा अहंकार से; **संयुक्ताः**—प्रवृत्त; **काम**—काम; **राग**—तथा आसक्ति का; **बल**—बलपूर्वक; **अन्विताः**—प्रेरित; **कर्षयन्तः**—कष्ट देते हुए; **शरीर-स्थम्**—शरीर के भीतर स्थित; **भूत-ग्रामम्**—भौतिक तत्त्वों का संयोग; **अचेतसः**—भ्रमित मनोवृत्ति वाले; **माम्**—मुझको; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **अन्तः**—भीतर; **शरीर-स्थम्**—शरीर में स्थित; **तान्**—उनको; **विद्धि**—जानो; **आसुर-निश्चयान्**—असुर।

जो लोग दम्भ तथा अहंकार से अभिभूत होकर शास्त्रविरुद्ध कठोर तपस्या और व्रत करते हैं, जो काम तथा आसक्ति द्वारा प्रेरित होते हैं जो मूर्ख हैं तथा जो शरीर के भौतिक तत्त्वों को तथा शरीर के भीतर स्थित परमात्मा को कष्ट पहुँचाते हैं, वे असुर कहे जाते हैं।

तात्पर्य : कुछ पुरुष ऐसे हैं जो ऐसी तपस्या की विधियों का निर्माण कर लेते हैं, जिनका वर्णन शास्त्रों में नहीं है। उदाहरणार्थ, किसी स्वार्थ के प्रयोजन से, यथा राजनीतिक कारणों से उपवास करना शास्त्रों में वर्णित नहीं है। शास्त्रों में तो आध्यात्मिक उन्नति के लिए उपवास करने की संस्तुति है, किसी राजनीतिक या सामाजिक उद्देश्य के लिए नहीं। *भगवद्गीता* के अनुसार जो लोग ऐसी तपस्याएँ करते हैं वे निश्चित रूप से आसुरी हैं। उनके कार्य शास्त्रविरुद्ध हैं और सामान्य जनता के हित में नहीं हैं। वास्तव में वे लोग गर्व, अहंकार, काम तथा भौतिक भोग के प्रति आसक्ति के कारण ऐसा करते हैं। ऐसे कार्यों से न केवल शरीर के उन तत्त्वों को विक्षोभ होता है जिनसे शरीर बना है, अपितु शरीर के भीतर निवास कर रहे परमात्मा को भी कष्ट पहुँचता है। ऐसे अवैध उपवास से या किसी राजनीतिक उद्देश्य से की गई तपस्या आदि से निश्चय ही अन्य लोगों की शान्ति भंग होती है। उनका उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं है। आसुरी व्यक्ति सोचता है कि इस विधि से वह अपने शत्रु या विपक्षियों को अपनी इच्छा पूरी करने के लिए बाध्य कर सकता है, लेकिन कभी-कभी ऐसे उपवास से व्यक्ति की मृत्यु भी हो जाती

है। ये कार्य भगवान् द्वारा अनुमत नहीं हैं, वे कहते हैं कि जो इन कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, वे असुर हैं। ऐसे प्रदर्शन भगवान् के अपमानस्वरूप हैं, क्योंकि इन्हें वैदिक शास्त्रों के आदेशों का उल्लंघन करके किया जाता है। इस प्रसंग में *अचेतसः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सामान्य मानसिक स्थिति वाले पुरुषों को शास्त्रों के आदेशों का पालन करना चाहिए। जो ऐसी स्थिति में नहीं हैं वे शास्त्रों की उपेक्षा तथा अवज्ञा करते हैं और तपस्या की अपनी विधि निर्मित कर लेते हैं। मनुष्य को सदैव आसुरी लोगों की चरम परिणति को स्मरण करना चाहिए, जैसा कि पिछले अध्याय में वर्णन किया गया है। भगवान् ऐसे लोगों को आसुरी व्यक्तियों के यहाँ जन्म लेने के लिए बाध्य करते हैं। फलस्वरूप वे भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जाने बिना जन्मजन्मान्तर आसुरी जीवन में रहते हैं। किन्तु यदि ऐसे व्यक्ति इतने भाग्यशाली हुए कि कोई गुरु उनका मार्गदर्शन करके उन्हें वैदिक ज्ञान के मार्ग पर ले जा सके, तो वे इस भवबन्धन से छूट कर अन्ततोगत्वा परमगति को प्राप्त होते हैं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

आहारः—भोजन; **तु**—निश्चय ही; **अपि**—भी; **सर्वस्य**—हर एक का; **त्रि-विधः**—तीन प्रकार का; **भवति**—होता है; **प्रियः**—प्यारा; **यज्ञः**—यज्ञ; **तपः**—तपस्या; **तथा**—और; **दानम्**—दान; **तेषाम्**—उनका; **भेदम्**—अन्तर; **इमम्**—यह; **शृणु**—सुनो।

यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति जो भोजन पसन्द करता है, वह भी प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन प्रकार का होता है। यही बात यज्ञ, तपस्या तथा दान के लिए भी सत्य है। अब उनके भेदों के विषय में सुनो।

तात्पर्य : प्रकृति के भिन्न-भिन्न गुणों के अनुसार भोजन, यज्ञ, तपस्या और दान में भेद होते हैं। वे सब एक से नहीं होते। जो लोग यह समझ सकते हैं कि किस गुण में क्या क्या करना चाहिए, वे वास्तव में बुद्धिमान हैं। जो लोग सभी प्रकार के यज्ञ, भोजन या दान को एकसा मान कर उनमें अन्तर नहीं कर पाते, वे अज्ञानी हैं। ऐसे भी प्रचारक लोग हैं, जो यह कहते हैं कि मनुष्य जो चाहे वह कर सकता है और सिद्धि प्राप्त कर सकता है। लेकिन ये मूर्ख मार्गदर्शक शास्त्रों के आदेशानुसार कार्य नहीं करते। ये अपनी विधियाँ बनाते हैं और सामान्य जनता को भ्रान्त करते रहते हैं।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥

आयुः—जीवन काल; **सत्त्व**—अस्तित्व; **बल**—बल; **आरोग्य**—स्वास्थ्य; **सुख**—सुख; **प्रीति**—तथा संतोष; **विवर्धनाः**—बढ़ाते हुए; **रस्याः**—रस से युक्त; **स्निग्धाः**—चिकना; **स्थिराः**—सहिष्णु; **हृद्याः**—हृदय को भाने वाले; **आहाराः**—भोजन; **सात्त्विक**—सतोगुणी; **प्रियाः**—अच्छे लगने वाले।

जो भोजन सात्त्विक व्यक्तियों को प्रिय होता है, वह आयु बढ़ाने वाला, जीवन को शुद्ध करने वाला तथा बल, स्वास्थ्य, सुख तथा तृप्ति प्रदान करने वाला होता है।

ऐसा भोजन रसमय, स्निग्ध, स्वास्थ्यप्रद तथा हृदय को भाने वाला होता है।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कटु–कड़ुवे, तीते; **अम्ल**–खट्टे; **लवण**–नमकीन; **अति-उष्ण**–अत्यन्त गरम; **तीक्ष्ण**–चटपटे; **रूक्ष**–शुष्क; **विदाहिनः**–जलाने वाले; **आहाराः**–भोजन; **राजसस्य**–रजोगुणी के; **इष्टाः**–रुचिकर; **दुःख**–दुख; **शोक**–शोक; **आमय**–रोग; **प्रदाः**–उत्पन्न करने वाले।

अत्यधिक तिक्त, खट्टे, नमकीन, गरम, चटपटे, शुष्क तथा जलन उत्पन्न करने वाले भोजन रजोगुणी व्यक्तियों को प्रिय होते हैं। ऐसे भोजन दुख, शोक तथा रोग उत्पन्न करने वाले हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १० ॥

यात-यामम्–भोजन करने से तीन घंटे पूर्व पकाया गया; **गत-रसम्**–स्वादरहित; **पूति**–दुर्गंधयुक्त; **पर्युषितम्**–बिगड़ा हुआ; **च**–भी; **यत्**–जो; **उच्छिष्टम्**–अन्यों का जूठन; **अपि**–भी; **च**–तथा; **अमेध्यम्**–अस्पृश्य; **भोजनम्**–भोजन; **तामस**–तमोगुणी को; **प्रियम्**–प्रिय।

खाने से तीन घंटे पूर्व पकाया गया, स्वादहीन, वियोजित एवं सड़ा, जूठा तथा अस्पृश्य वस्तुओं से युक्त भोजन उन लोगों को प्रिय होता है, जो तामसी होते हैं।

तात्पर्य : आहार (भोजन) का उद्देश्य आयु को बढ़ाना, मस्तिष्क को शुद्ध करना तथा शरीर को शक्ति पहुँचाना है। इसका यही एकमात्र उद्देश्य है। प्राचीन काल में विद्वान पुरुष ऐसा भोजन चुनते थे, जो स्वास्थ्य तथा आयु को बढ़ाने वाला हो, यथा दूध के व्यंजन, चीनी, चावल, गेहूँ, फल तथा तरकारियाँ। ये भोजन सतोगुणी व्यक्तियों को अत्यन्त प्रिय होते हैं। अन्य कुछ पदार्थ, जैसे भुना मक्का तथा गुड़ स्वयं रुचिकर न होते हुए भी दूध या अन्य पदार्थों के साथ मिलने पर स्वादिष्ट हो जाते हैं। तब वे सात्त्विक हो जाते हैं। ये सारे भोजन स्वभाव से ही शुद्ध हैं। ये मांस तथा मदिरा जैसे अस्पृश्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न हैं। आठवें श्लोक में जिन स्निग्ध (चिकने) पदार्थों का उल्लेख है, उनका पशु-वध से प्राप्त चर्बी से कोई नाता नहीं होता। यह पशु चर्बी (वसा) दुग्ध के रूप में उपलब्ध है, जो समस्त भोजनों में परम चमत्कारी है। दुग्ध, मक्खन, पनीर तथा अन्य पदार्थों से जो पशु चर्बी मिलती है, उससे निर्दोष पशुओं के मारे जाने का प्रश्न नहीं उठता। यह केवल पाशविक मनोवृत्ति है, जिसके कारण पशुवध चल रहा है। आवश्यक चर्बी प्राप्त करने की सुसंस्कृत विधि दूध से है। पशुवध तो अमानवीय है। मटर, दाल, दलिया आदि से प्रचुर मात्रा में प्रोटीन उपलब्ध होता है।

जो राजस भोजन कटु, बहुत लवणीय या अत्यधिक गर्म, चरपरा होता है, वह आमाशय की श्लेष्मा को घटा कर रोग उत्पन्न करता है। तामसी भोजन अनिवार्यतः बासी होता है। खाने से तीन घंटे पूर्व बना कोई भी भोजन (भगवान् को अर्पित प्रसादम्

को छोड़कर) तामसी माना जाता है। बिगड़ने के कारण उससे दुर्गंध आती है, जिससे तामसी लोग प्रायः आकृष्ट होते हैं, किन्तु सात्त्विक पुरुष उससे मुख मोड़ लेते हैं।

उच्छिष्ट (जूठा) भोजन उसी अवस्था में किया जा सकता है, जब वह उस भोजन का एक अंश हो जो भगवान् को अर्पित किया जा चुका हो, या कोई साधुपुरुष, विशेष रूप से गुरु द्वारा, ग्रहण किया जा चुका हो। अन्यथा ऐसा जूठा भोजन तामसी होता है और वह संदूषण या रोग को बढ़ाने वाला होता है। यद्यपि ऐसा भोजन तामसी लोगों को स्वादिष्ट लगता है, लेकिन सतोगुणी उसे न तो छूना पसन्द करते हैं, न खाना। सर्वोत्तम भोजन तो भगवान् को समर्पित भोजन का उच्छिष्ट है। *भगवद्गीता* में परमेश्वर कहते हैं कि वे तरकारियाँ, आटे तथा दूध की बनी वस्तुएँ भक्तिपूर्वक भेंट किये जाने पर स्वीकार करते हैं। *पत्रं पुष्पं फलं तोयम्*। निस्सन्देह भक्ति तथा प्रेम ही प्रमुख वस्तुएँ हैं, जिन्हें भगवान् स्वीकार करते हैं। लेकिन इसका भी उल्लेख है कि प्रसादम् को एक विशेष विधि से बनाया जाय। कोई भी भोजन, जो शास्त्रीय ढंग से तैयार किया जाता है और भगवान् को अर्पित किया जाता है, ग्रहण किया जा सकता है, भले ही वह कितने ही घंटे पूर्व क्यों न तैयार हुआ हो, क्योंकि ऐसा भोजन दिव्य होता है। अतएव भोजन को रोगाणुरोधक, खाद्य तथा सभी मनुष्यों के लिए रुचिकर बनाने के लिए सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित करना चाहिए।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

अफल-आकाङ्क्षिभिः—फल की इच्छा से रहित; **यज्ञः**—यज्ञ; **विधि-दिष्टः**—शास्त्रों के निर्देशानुसार; **यः**—जो; **इज्यते**—सम्पन्न किया जाता है; **यष्टव्यम्**—सम्पन्न किया जाना चाहिए; **एव**—निश्चय ही; **इति**—इस प्रकार; **मनः**—मन में; **समाधाय**—स्थिर करके; **सः**—वह; **सात्त्विकः**—सतोगुणी।

यज्ञों में वही यज्ञ सात्त्विक होता है, जो शास्त्र के निर्देशानुसार कर्तव्य समझ कर उन लोगों के द्वारा किया जाता है, जो फल की इच्छा नहीं करते।

तात्पर्य : सामान्यतया यज्ञ किसी प्रयोजन से किया जाता है। लेकिन यहाँ पर बताया गया है कि यज्ञ बिना किसी इच्छा के सम्पन्न किया जाना चाहिए। इसे कर्तव्य समझ कर किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, मन्दिरों या गिरजाघरों में मनाये जाने वाले अनुष्ठान सामान्यतया भौतिक लाभ को दृष्टि में रख कर किये जाते हैं, लेकिन यह सतोगुण में नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि वह कर्तव्य मानकर मन्दिर या गिरजाघर में जाए, भगवान् को नमस्कार करे और फूल तथा प्रसाद चढ़ाए। प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि केवल ईश्वर की पूजा करने के लिए मन्दिर जाना व्यर्थ है। लेकिन शास्त्रों में आर्थिक लाभ के लिए पूजा करने का आदेश नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि केवल अर्चाविग्रह को नमस्कार करने जाए। इससे मनुष्य सतोगुण को प्राप्त होगा। प्रत्येक सभ्य नागरिक का कर्तव्य है कि वह शास्त्रों के आदेशों का पालन करे और भगवान् को नमस्कार करे।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥१२॥

अभिसन्धाय--इच्छा कर के; **तु**--लेकिन; **फलम्**--फल को; **दम्भ**--घमंड; **अर्थम्**--के लिए; **अपि**--भी; **च**--तथा; **एव**--निश्चय ही; **यत्**--जो; **इज्यते**--किया जाता है; **भरत-श्रेष्ठ**--हे भरतवंशियों में प्रमुख; **तम्**--उस; **यज्ञम्**--यज्ञ को; **विद्धि**--जानो; **राजसम्**--रजोगुणी।

लेकिन हे भरतश्रेष्ठ! जो यज्ञ किसी भौतिक लाभ के लिए या गर्ववश किया जाता है, उसे तुम राजसी जानो।

तात्पर्य : कभी-कभी स्वर्गलोक पहुँचने या किसी भौतिक लाभ के लिए यज्ञ तथा अनुष्ठान किये जाते हैं। ऐसे यज्ञ या अनुष्ठान राजसी माने जाते हैं।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥१३॥

विधि-हीनम्--शास्त्रीय निर्देश के बिना; **असृष्ट-अन्नम्**--प्रसाद वितरण किये बिना; **मन्त्र-हीनम्**--वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किये बिना; **अदक्षिणम्**--पुरोहितों को दक्षिणा दिये बिना; **श्रद्धा**--श्रद्धा; **विरहितम्**--विहीन; **यज्ञम्**--यज्ञ को; **तामसम्**--तामसी; **परिचक्षते**--माना जाता है।

जो यज्ञ शास्त्र के निर्देशों की अवहेलना करके, प्रसाद वितरण किये बिना, वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किये बिना, पुरोहितों को दक्षिणा दिये बिना तथा श्रद्धा के बिना सम्पन्न किया जाता है, वह तामसी माना जाता है।

तात्पर्य : तमोगुण में श्रद्धा वास्तव में अश्रद्धा है। कभी-कभी लोग किसी देवता की पूजा धन अर्जित करने के लिए करते हैं और फिर वे इस धन को शास्त्र के निर्देशों की अवहेलना करके मनोरंजन में व्यय करते हैं। ऐसे धार्मिक अनुष्ठानों को सात्त्विक नहीं माना जाता। ये तामसी होते हैं। इनसे तामसी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और मानव समाज को कोई लाभ नहीं पहुँचता।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥१४॥

देव--परमेश्वर; **द्विज**--ब्राह्मण; **गुरु**--गुरु; **प्राज्ञ**--तथा पूज्य व्यक्तियों की; **पूजनम्**--पूजा; **शौचम्**--पवित्रता; **आर्जवम्**--सरलता; **ब्रह्मचर्यम्**--ब्रह्मचर्य; **अहिंसा**--अहिंसा; **च**--भी; **शारीरम्**--शरीर सम्बन्धी; **तपः**--तपस्या; **उच्यते**--कहा जाता है।

परमेश्वर, ब्राह्मणों, गुरु, माता-पिता जैसे गुरुजनों की पूजा करना तथा पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा ही शारीरिक तपस्या है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् तपस्या के भेद बताते हैं। सर्वप्रथम वे शारीरिक तपस्या का वर्णन करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर या देवों, योग्य ब्राह्मणों, गुरु तथा माता-पिता जैसे गुरुजनों या वैदिक ज्ञान में पारंगत व्यक्ति को प्रणाम करे या प्रणाम करना

सीखे। इन सबका समुचित आदर करना चाहिए। उसे चाहिए कि आंतरिक तथा बाह्य रूप में अपने को शुद्ध करने का अभ्यास करे और आचरण में सरल बनना सीखे। वह कोई ऐसा कार्य न करे, जो शास्त्र-सम्मत न हो। वह वैवाहिक जीवन के अतिरिक्त मैथुन में रत न हो, क्योंकि शास्त्रों में केवल विवाह में ही मैथुन की अनुमति है, अन्यथा नहीं। यह ब्रह्मचर्य कहलाता है। ये सब शारीरिक तपस्याएँ हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥१५॥

अनुद्वेग-करम्—क्षुब्ध न करने वाले; **वाक्यम्**—शब्द; **सत्यम्**—सच्चे; **प्रिय**—प्रिय; **हितम्**—लाभप्रद; **च**—भी; **यत्**—जो; **स्वाध्याय**—वैदिक अध्ययन का; **अभ्यसनम्**—अभ्यास; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **वाक्-मयम्**—वाणी की; **तपः**—तपस्या; **उच्यते**—कही जाती है।

सच्चे, भाने वाले, हितकर तथा अन्यों को क्षुब्ध न करने वाले वाक्य बोलना और वैदिक साहित्य का नियमित पारायण करना—यही वाणी की तपस्या है।

तात्पर्य : मनुष्य को ऐसा नहीं बोलना चाहिए कि दूसरों के मन क्षुब्ध हो जाएँ। निस्सन्देह जब शिक्षक बोले तो वह अपने विद्यार्थियों को उपदेश देने के लिए सत्य बोल सकता है, लेकिन उसी शिक्षक को चाहिए कि यदि वह उनसे बोले जो उसके विद्यार्थी नहीं हैं, तो उनके मन को क्षुब्ध करने वाला सत्य न बोले। यही वाणी की तपस्या है। इसके अतिरिक्त प्रलाप (व्यर्थ की वार्ता) नहीं करना चाहिए। आध्यात्मिक क्षेत्रों में बोलने की विधि यह है कि जो भी कहा जाय वह शास्त्र-सम्मत हो। उसे तुरन्त ही अपने कथन की पुष्टि के लिए शास्त्रों का प्रमाण देना चाहिए। इसके साथ-साथ वह बात सुनने में अति प्रिय लगनी चाहिए। ऐसी विवेचना से मनुष्य को सर्वोच्च लाभ और मानव समाज का उत्थान हो सकता है। वैदिक साहित्य का विपुल भण्डार है और इसका अध्ययन किया जाना चाहिए। यही वाणी की तपस्या कही जाती है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥१६॥

मनः-प्रसादः—मन की तुष्टि; **सौम्यत्वम्**—अन्यों के प्रति कपट भाव से रहित; **मौनम्**—गम्भीरता; **आत्म**—अपना; **विनिग्रहः**—नियन्त्रण, संयम; **भाव**—स्वभाव का; **संशुद्धिः**—शुद्धीकरण; **इति**—इस प्रकार; **एतत्**—यह; **तपः**—तपस्या; **मानसम्**—मन की; **उच्यते**—कही जाती है।

तथा संतोष, सरलता, गम्भीरता, आत्म-संयम एवं जीवन की शुद्धि—ये मन की तपस्याएँ हैं।

तात्पर्य : मन को संयमित बनाने का अर्थ है, उसे इन्द्रियतृप्ति से विलग करना। उसे इस तरह प्रशिक्षित किया जाना चाहिए जिससे वह सदैव परोपकार के विषय में सोचे। मन के लिए सर्वोत्तम प्रशिक्षण विचारों की श्रेष्ठता है। मनुष्य को कृष्णभावनामृत से विचलित नहीं होना चाहिए और इन्द्रियभोग से सदैव बचना चाहिए। अपने स्वभाव को शुद्ध बनाना कृष्णभावनाभावित होना है। इन्द्रियभोग के विचारों से मन को अलग रख करके ही मन

की तुष्टि प्राप्त की जा सकती है। हम इन्द्रियभोग के बारे में जितना सोचते हैं, उतना ही मन अतृप्त होता जाता है। इस वर्तमान युग में हम मन को व्यर्थ ही अनेक प्रकार के इन्द्रियतृप्ति के साधनों में लगाये रखते हैं, जिससे मन संतुष्ट नहीं हो पाता। अतएव सर्वश्रेष्ठ विधि यही है कि मन को वैदिक साहित्य की ओर मोड़ा जाय, क्योंकि यह संतोष प्रदान करने वाली कहानियों से भरा है—यथा पुराण तथा महाभारत। कोई भी इस ज्ञान का लाभ उठा कर शुद्ध हो सकता है। मन को छल-कपट से मुक्त होना चाहिए और मनुष्य को सबके कल्याण (हित) के विषय में सोचना चाहिए। मौन (गम्भीरता) का अर्थ है कि मनुष्य निरन्तर आत्मसाक्षात्कार के विषय में सोचता रहे। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति पूर्ण मौन इस दृष्टि से धारण किये रहता है। *मन-निग्रह* का अर्थ है—मन को इन्द्रियभोग से पृथक् करना। मनुष्य को अपने व्यवहार में निष्कपट होना चाहिए और इस तरह उसे अपने जीवन (भाव) को शुद्ध बनाना चाहिए। ये सब गुण मन की तपस्या के अन्तर्गत आते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

श्रद्धया—श्रद्धा समेत; **परया**—दिव्य; **तप्तम्**—किया गया; **तपः**—तप; **तत्**—वह; **त्रि-विधम्**—तीन प्रकार के; **नरैः**—मनुष्यों द्वारा; **अफल-आकाङ्क्षिभिः**—फल की इच्छा न करने वाले; **युक्तैः**—प्रवृत्त; **सात्त्विकम्**—सतोगुण में; **परिचक्षते**—कहा जाता है।

भौतिक लाभ की इच्छा न करने वाले तथा केवल परमेश्वर में प्रवृत्त मनुष्यों द्वारा दिव्य श्रद्धा से सम्पन्न यह तीन प्रकार की तपस्या सात्त्विक तपस्या कहलाती है।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥

सत्-कार—आदर; **मान**—सम्मान; **पूजा**—तथा पूजा; **अर्थम्**—के लिए; **तपः**—तपस्या; **दम्भेन**—घमंड से; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **यत्**—जो; **क्रियते**—किया जाता है; **तत्**—वह; **इह**—इस संसार में; **प्रोक्तम्**—कहा जाता है; **राजसम्**—रजोगुणी; **चलम्**—चलायमान; **अध्रुवम्**—क्षणिक।

जो तपस्या दंभपूर्वक तथा सम्मान, सत्कार एवं पूजा कराने के लिए सम्पन्न की जाती है, वह राजसी (रजोगुणी) कहलाती है। यह न तो स्थायी होती है न शाश्वत।

तात्पर्य : कभी-कभी तपस्या इसलिए की जाती है कि लोग आकर्षित हों तथा उनसे सत्कार, सम्मान तथा पूजा मिल सके। रजोगुणी लोग अपने अधीनस्थों से पूजा करवाते हैं और उनसे चरण धुलवाकर धन चढ़वाते हैं। तपस्या करने के बहाने ऐसे कृत्रिम आयोजन राजसी माने जाते हैं। इनके फल क्षणिक होते हैं, वे कुछ समय तक रहते हैं। वे कभी स्थायी नहीं होते।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

मूढ–मूर्ख; **ग्राहेण**–प्रयत्न से; **आत्मनः**–अपने ही; **यत्**–जो; **पीडया**–उत्पीड़न द्वारा; **क्रियते**–की जाती है; **तपः**–तपस्या; **परस्य**–अन्यों को; **उत्सादन-अर्थम्**–विनाश करने के लिए; **वा**–अथवा; **तत्**–वह; **तामसम्**–तमोगुणी; **उदाहृतम्**–कही जाती है।

मूर्खतावश आत्म-उत्पीड़न के लिए या अन्यों को विनष्ट करने या हानि पहुँचाने के लिए जो तपस्या की जाती है, वह तामसी कहलाती है।

तात्पर्य : मूर्खतापूर्ण तपस्या के ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं, जैसे कि हिरण्यकशिपु जैसे असुरों ने अमर बनने तथा देवताओं का वध करने के लिए कठिन तप किए। उसने ब्रह्मा से ऐसी ही वस्तुएँ माँगी थीं, लेकिन अन्त में वह भगवान् द्वारा मारा गया। किसी असम्भव वस्तु के लिए तपस्या करना निश्चय ही तामसी तपस्या है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥

दातव्यम्–देने योग्य; **इति**–इस प्रकार; **यत्**–जो; **दानम्**–दान; **दीयते**–दिया जाता है; **अनुपकारिणे**–प्रत्युपकार की भावना के बिना; **देशे**–उचित स्थान में; **काले**–उचित समय में; **च**–भी; **पात्रे**–उपयुक्त व्यक्ति को; **च**–तथा; **तत्**–वह; **दानम्**–दान; **सात्त्विकम्**–सतोगुणी, सात्त्विक; **स्मृतम्**–माना जाता है।

जो दान कर्तव्य समझकर, किसी प्रत्युपकार की आशा के बिना, समुचित काल तथा स्थान में और योग्य व्यक्ति को दिया जाता है, वह सात्त्विक माना जाता है।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में ऐसे व्यक्ति को दान देने की संस्तुति है, जो आध्यात्मिक कार्यों में लगा हो। अविचारपूर्ण ढंग से दान देने की संस्तुति नहीं है। आध्यात्मिक सिद्धि को सदैव ध्यान में रखा जाता है। अतएव किसी तीर्थ स्थान में, सूर्य या चन्द्रग्रहण के समय, मासान्त में या योग्य ब्राह्मण अथवा वैष्णव (भक्त) को, या मन्दिर में दान देने की संस्तुति है। बदले में किसी प्रकार की प्राप्ति की अभिलाषा न रखते हुए ऐसे दान किये जाने चाहिए। कभी-कभी निर्धन को दान करुणावश दिया जाता है। लेकिन यदि निर्धन दान देने योग्य (पात्र) नहीं होता, तो उससे आध्यात्मिक प्रगति नहीं होती। दूसरे शब्दों में, वैदिक साहित्य में अविचारपूर्ण दान की संस्तुति नहीं है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ २१॥

यत्–जो; **तु**–लेकिन; **प्रति-उपकार-अर्थम्**–बदले में पाने के उद्देश्य से; **फलम्**–फल को; **उद्दिश्य**–इच्छा करके; **वा**–अथवा; **पुनः**–फिर; **दीयते**–दिया जाता है; **च**–भी; **परिक्लिष्टम्**–पश्चात्ताप के साथ; **तत्**–उस; **दानम्**–दान को; **राजसम्**–रजोगुणी; **स्मृतम्**–माना जाता है।

किन्तु जो दान प्रत्युपकार की भावना से या कर्म फल की इच्छा से या अनिच्छापूर्वक किया जाता है, वह रजोगुणी (राजस) कहलाता है।

तात्पर्य : दान कभी स्वर्ग जाने के लिए दिया जाता है, तो कभी अत्यन्त कष्ट से तथा कभी इस पश्चात्ताप के साथ कि "मैंने इतना व्यय इस तरह क्यों किया?" कभी-कभी अपने वरिष्ठजनों के दबाव में आकर भी दान दिया जाता है। ऐसे दान रजोगुण में दिये गये माने जाते हैं।

ऐसे अनेक दातव्य न्यास हैं, जो उन संस्थाओं को दान देते हैं, जहाँ इन्द्रियभोग का बाजार गर्म रहता है। वैदिक शास्त्र ऐसे दान की संस्तुति नहीं करते। केवल सात्त्विक दान की संस्तुति की गई है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

अदेश—अशुद्ध स्थान; **काले**—तथा अशुद्ध समय में; **यत्**—जो; **दानम्**—दान; **अपात्रेभ्यः**—अयोग्य व्यक्तियों को; **च**—भी; **दीयते**—दिया जाता है; **असत्-कृतम्**—सम्मान के बिना; **अवज्ञातम्**—समुचित ध्यान दिये बिना; **तत्**—वह; **तामसम्**—तमोगुणी; **उदाहृतम्**—कहा जाता है।

तथा जो दान किसी अपवित्र स्थान में, अनुचित समय में, किसी अयोग्य व्यक्ति को या बिना समुचित ध्यान तथा आदर से दिया जाता है, वह तामसी कहलाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर मद्यपान तथा द्यूतक्रीड़ा में व्यसनी के लिए दान देने को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। ऐसा दान तामसी है। ऐसा दान लाभदायक नहीं होता, वरन् इससे पापी पुरुषों को प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार, यदि बिना सम्मान तथा ध्यान दिये किसी उपयुक्त व्यक्ति को दान दिया जाय, तो वह भी तामसी है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥

ॐ—परम का सूचक; **तत्**—वह; **सत्**—शाश्वत; **इति**—इस प्रकार; **निर्देशः**—संकेत; **ब्रह्मणः**—ब्रह्म का; **त्रि-विधः**—तीन प्रकार का; **स्मृतः**—माना जाता है; **ब्राह्मणाः**—ब्राह्मण लोग; **तेन**—उससे; **वेदाः**—वैदिक साहित्य; **च**—भी; **यज्ञाः**—यज्ञ; **च**—भी; **विहिताः**—प्रयुक्त; **पुरा**—आदिकाल में।

सृष्टि के आदिकाल से ॐ तत् सत् ये तीन शब्द परब्रह्म को सूचित करने के लिए प्रयुक्त किये जाते रहे हैं। ये तीनों सांकेतिक अभिव्यक्तियाँ ब्राह्मणों द्वारा वैदिक मंत्रों का उच्चारण करते समय तथा ब्रह्म को संतुष्ट करने के लिए यज्ञों के समय प्रयुक्त होती थीं।

तात्पर्य : यह बताया जा चुका है कि तपस्या, यज्ञ, दान तथा भोजन के तीन-तीन भेद हैं—सात्त्विक, राजस तथा तामस। लेकिन चाहे ये उत्तम हों, मध्यम हों या निम्न हों, ये सभी बद्ध तथा भौतिक गुणों से कलुषित हैं। किन्तु जब ये ब्रह्म—*ॐ तत् सत्* को लक्ष्य करके किये जाते हैं तो आध्यात्मिक उन्नति के साधन बन जाते हैं। शास्त्रों में ऐसे लक्ष्य का संकेत हुआ है। *ॐ तत् सत्* ये तीन शब्द विशेष रूप में परम सत्य भगवान् के सूचक हैं। वैदिक मन्त्रों में ॐ शब्द सदैव रहता है।

जो व्यक्ति शास्त्रों के विधानों के अनुसार कर्म नहीं करता, उसे परब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। भले ही उसे क्षणिक फल प्राप्त हो जाये, लेकिन उसे चरमगति प्राप्त नहीं हो पाती। तात्पर्य यह है कि दान, यज्ञ तथा तप को सतोगुण में रहकर करना चाहिए। रजो या तमोगुण में सम्पन्न करने पर ये निश्चित रूप से निम्न कोटि के होते हैं। *ॐ तत् सत्* शब्दों का उच्चारण परमेश्वर के पवित्र नाम के साथ किया जाता है, उदाहरणार्थ, *ॐ तद्विष्णोः*। जब भी किसी वैदिक मंत्र का या परमेश्वर का नाम लिया जाता है, तो उसके साथ ॐ जोड़ दिया जाता है। यह वैदिक साहित्य का सूचक है। ये तीन शब्द वैदिक मंत्रों से लिए जाते हैं। *ॐ इत्येतद्ब्रह्मणो नेदिष्ठं नाम* (*ऋग्वेद*) प्रथम लक्ष्य का सूचक है। फिर *तत् त्वमसि* (*छान्दोग्य उपनिषद* ६.८.७) दूसरे लक्ष्य का सूचक है। तथा *सद् एव सौम्य* (*छान्दोग्य उपनिषद* ६.२.१) तृतीय लक्ष्य का सूचक है। ये तीनों मिलकर ॐ तत् सत् हो जाते हैं। आदिकाल में जब प्रथम जीवात्मा ब्रह्मा ने यज्ञ किये, तो उन्होंने इन तीनों शब्दों के द्वारा भगवान् को लक्षित किया था। अतएव गुरु-परम्परा द्वारा उसी सिद्धान्त का पालन किया जाता रहा है। अतः इस मन्त्र का अत्यधिक महत्त्व है। अतएव *भगवद्गीता* के अनुसार कोई भी कार्य ॐ तत् सत् के लिए, अर्थात् भगवान् के लिए, किया जाना चाहिए। जब कोई इन तीनों शब्दों के द्वारा तप, दान तथा यज्ञ सम्पन्न करता है, तो वह कृष्णभावनामृत में कार्य करता है। कृष्णभावनामृत दिव्य कार्यों का वैज्ञानिक कार्यान्वयन है, जिससे मनुष्य भगवद्धाम वापस जा सके। ऐसी दिव्य विधि से कर्म करने में शक्ति का क्षय नहीं होता।

तस्माद् ॐ इत्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥

तस्मात्—अतएव; **ॐ**—ओम् से प्रारम्भ करके; **इति**—इस प्रकार; **उदाहृत्य**—संकेत करके; **यज्ञ**—यज्ञ; **दान**—दान; **तपः**—तथा तप की; **क्रियाः**—क्रियाएँ; **प्रवर्तन्ते**—प्रारम्भ होती हैं; **विधान-उक्ताः**—शास्त्रीय विधान के अनुसार; **सततम्**—सदैव; **ब्रह्म-वादिनाम्**—अध्यात्मवादियों या योगियों की।

अतएव योगीजन ब्रह्म की प्राप्ति के लिए शास्त्रीय विधि के अनुसार यज्ञ, दान तथा तप की समस्त क्रियाओं का शुभारम्भ सदैव ओम् से करते हैं।

तात्पर्य : *ॐ तद् विष्णोः परमं पदम्* (*ऋग्वेद* १.२२.२०)। विष्णु के चरणकमल परम भक्ति के आश्रय हैं। भगवान् के लिए सम्पन्न हर एक क्रिया सारे कार्यक्षेत्र की सिद्धि निश्चित कर देती है।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ २५॥

तत्—वह; **इति**—इस प्रकार; **अनभिसन्धाय**—बिना इच्छा किये; **फलम्**—फल; **यज्ञ**—यज्ञ; **तपः**—तथा तप की; **क्रियाः**—क्रियाएँ; **दान**—दान की; **क्रियाः**—क्रियाएँ; **च**—भी; **विविधाः**—विभिन्न; **क्रियन्ते**—की जाती हैं; **मोक्ष-काङ्क्षिभिः**—मोक्ष चाहने वालों के द्वारा।

मनुष्य को चाहिए कि कर्मफल की इच्छा किये बिना विविध प्रकार के यज्ञ, तप

तथा दान को 'तत्' शब्द कह कर सम्पन्न करे। ऐसी दिव्य क्रियाओं का उद्देश्य भव-बन्धन से मुक्त होना है।

तात्पर्य : आध्यात्मिक पद तक उठने के लिए मनुष्य को चाहिए कि किसी लाभ के निमित्त कर्म न करे। सारे कार्य भगवान् के परम धाम वापस जाने के उद्देश्य से किये जायँ, जो चरम उपलब्धि है।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

सत्-भावे—ब्रह्म के स्वभाव के अर्थ में; **साधु-भावे**—भक्त के स्वभाव के अर्थ में; **च**—भी; **सत्**—सत् शब्द; **इति**—इस प्रकार; **एतत्**—यह; **प्रयुज्यते**—प्रयुक्त किया जाता है; **प्रशस्ते**—प्रामाणिक; **कर्मणि**—कर्मों में; **तथा**—भी; **सत्-शब्दः**—सत् शब्द; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **युज्यते**—प्रयुक्त किया जाता है; **यज्ञे**—यज्ञ में; **तपसि**—तपस्या में; **दाने**—दान में; **च**—भी; **स्थितिः**—स्थिति; **सत्**—ब्रह्म; **इति**—इस प्रकार; **च**—तथा; **उच्यते**—उच्चारण किया जाता है; **कर्म**—कार्य; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **तत्**—उस; **अर्थीयम्**—के लिए; **सत्**—ब्रह्म; **इति**—इस प्रकार; **एव**—निश्चय ही; **अभिधीयते**—कहा जाता है।

परम सत्य भक्तिमय यज्ञ का लक्ष्य है और उसे सत् शब्द से अभिहित किया जाता है। हे पृथापुत्र! ऐसे यज्ञ का सम्पन्नकर्ता भी 'सत्' कहलाता है जिस प्रकार यज्ञ, तप तथा दान के सारे कर्म भी जो परमपुरुष को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं, 'सत्' हैं।

तात्पर्य : *प्रशस्ते कर्मणि* अर्थात् "नियत कर्तव्य" सूचित करते हैं कि वैदिक साहित्य में ऐसी कई क्रियाएँ निर्धारित हैं, जो गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक संस्कार के रूप में हैं। ऐसे संस्कार जीव की चरम मुक्ति के लिए होते हैं। ऐसी सारी क्रियाओं के समय *ॐ तत् सत्* उच्चारण करने की संस्तुति की जाती है। सद्भाव तथा साधुभाव आध्यात्मिक स्थिति के सूचक हैं। कृष्णभावनामृत में कर्म करना सत् है और जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के कार्यों के प्रति सचेष्ट रहता है, वह साधु कहलाता है। *श्रीमद्भागवत* में (३.२५.२५) कहा गया है कि भक्तों की संगति से आध्यात्मिक विषय स्पष्ट हो जाता है। इसके लिए *सतां प्रसङ्गात्* शब्द व्यवहृत हुए हैं। बिना सत्संग के दिव्य ज्ञान उपलब्ध नहीं हो पाता। किसी को दीक्षित करते समय या यज्ञोपवीत धारण कराते समय *ॐ तत् सत्* शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इसी प्रकार सभी प्रकार के यज्ञ करते समय *ॐ तत् सत्* या ब्रह्म ही चरम लक्ष्य होता है। *तदर्थीयम्* शब्द ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी भी कार्य में सेवा करने का सूचक है, जिसमें भगवान् के मन्दिर में भोजन पकाना तथा सहायता करने जैसी सेवाएँ या भगवान् के यश का प्रसार करने वाला अन्य कोई भी कार्य सम्मिलित है। इस तरह *ॐ तत् सत्* शब्द समस्त कार्यों को पूरा करने के लिए कई प्रकार से प्रयुक्त किये जाते हैं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

अश्रद्धया—श्रद्धारहित; **हुतम्**—यज्ञ में आहुति किया गया; **दत्तम**—प्रदत्त; **तपः**—तपस्या; **तप्तम्**—सम्पन्न; **कृतम्**—किया गया; **च**—भी; **यत्**—जो; **असत्**—झूठा; **इति**—इस प्रकार; **उच्यते**—कहा जाता है; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **न**—कभी नहीं; **च**—भी; **तत्**—वह; **प्रेत्य**—मर कर; **न उ**—न तो; **इह**—इस जीवन में।

हे पार्थ! श्रद्धा के बिना यज्ञ, दान या तप के रूप में जो भी किया जाता है, वह नश्वर है। वह 'असत्' कहलाता है और इस जन्म तथा अगले जन्म—दोनों में ही व्यर्थ जाता है।

तात्पर्य : चाहे यज्ञ हो, दान हो या तप हो, बिना आध्यात्मिक लक्ष्य के व्यर्थ रहता है। अतएव इस श्लोक में यह घोषित किया गया है कि ऐसे कार्य कुत्सित हैं। प्रत्येक कार्य कृष्णभावनामृत में रहकर ब्रह्म के लिए किया जाना चाहिए। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में भगवान् में श्रद्धा की संस्तुति की गई है। ऐसी श्रद्धा तथा समुचित मार्गदर्शन के बिना कोई फल नहीं मिल सकता। समस्त वैदिक आदेशों के पालन का चरम लक्ष्य कृष्ण को जानना है। इस सिद्धान्त का पालन किये बिना कोई सफल नहीं हो सकता। इसीलिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग यही है कि मनुष्य प्रारम्भ से ही किसी प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में कृष्णभावनामृत में कार्य करे। सब प्रकार से सफल होने का यही मार्ग है।

बद्ध अवस्था में लोग देवताओं, भूतों या कुबेर जैसे यक्षों की पूजा के प्रति आकृष्ट होते हैं। यद्यपि सतोगुण रजोगुण तथा तमोगुण से श्रेष्ठ है, लेकिन जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, वह प्रकृति के इन तीनों गुणों को पार कर जाता है। यद्यपि क्रमिक उन्नति की विधि है, किन्तु शुद्ध भक्तों की संगति से यदि कोई कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, तो यह सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। इस अध्याय में इसी की संस्तुति की गई है। इस प्रकार से सफलता पाने के लिए उपयुक्त गुरु प्राप्त करके उसके निर्देशन में प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए। तभी ब्रह्म में श्रद्धा हो सकती है। जब कालक्रम से यह श्रद्धा परिपक्व होती है, तो इसे ईश्वरप्रेम कहते हैं। यही प्रेम समस्त जीवों का चरम लक्ष्य है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि सीधे कृष्णभावनामृत ग्रहण करे। इस सत्रहवें अध्याय का यही संदेश है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय "श्रद्धा के विभाग" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।

अध्याय अठारह

उपसंहार—संन्यास की सिद्धि

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥१॥

अर्जुनःउवाच—अर्जुन ने कहा; **संन्यासस्य**—संन्यास (त्याग) का; **महाबाहो**—हे बलशाली भुजाओं वाले; **तत्त्वम्**—सत्य को; **इच्छामि**—चाहता हूँ; **वेदितुम**—जानना; **त्यागस्य**—त्याग (संन्यास) का; **च**—भी; **हृषीकेश**—हे इन्द्रियों के स्वामी; **पृथक्**—भिन्न रूप से; **केशि-निषूदन**—हे केशी असुर के संहर्ता।

अर्जुन ने कहा—हे महाबाहु! मैं त्याग का उद्देश्य जानने का इच्छुक हूँ और हे केशिनिषूदन, हे हृषीकेश! मैं त्यागमय जीवन (संन्यास आश्रम) का भी उद्देश्य जानना चाहता हूँ।

तात्पर्य : वास्तव में *भगवद्गीता* सत्रह अध्यायों में ही समाप्त हो जाती है। अठारहवाँ अध्याय तो पूर्वविवेचित विषयों का पूरक संक्षेप है। प्रत्येक अध्याय में भगवान् बल देकर कहते हैं कि भगवान् की सेवा ही जीवन का चरम लक्ष्य है। इसी विषय को

इस अठारहवें अध्याय में ज्ञान के परम गुह्य मार्ग के रूप में संक्षेप में बताया गया है। प्रथम छह अध्यायों में भक्तियोग पर बल दिया गया—*योगिनामपि सर्वेषाम्...* —"समस्त योगियों में से जो योगी अपने अन्तर में सदैव मेरा चिन्तन करता है, वह सर्वश्रेष्ठ है।" अगले छह अध्यायों में शुद्ध भक्ति, उसकी प्रकृति तथा कार्यों का विवेचन है। अन्त के छह अध्यायों में ज्ञान, वैराग्य अपरा तथा परा प्रकृति के कार्यों और भक्ति का वर्णन है। निष्कर्ष रूप में यह कहा गया है कि सारे कार्यों को परमेश्वर से युक्त होना चाहिए, जो *ॐ तत् सत्* शब्दों से प्रकट होता है और ये शब्द परम पुरुष विष्णु के सूचक हैं। *भगवद्गीता* के तृतीय खण्ड से यही प्रकट होता है कि भक्ति ही एकमात्र जीवन का चरम लक्ष्य है। पूर्ववर्ती आचार्यों तथा ब्रह्मसूत्र या वेदान्त-सूत्र का उद्धरण देकर इसकी स्थापना की गई है। कुछ निर्विशेषवादी वेदान्त सूत्र के ज्ञान पर अपना एकाधिकार जनाते हैं, लेकिन वास्तव में *वेदान्त सूत्र* भक्ति को समझने के लिए है, क्योंकि ब्रह्मसूत्र के रचयिता (प्रणेता) साक्षात् भगवान् हैं और वे ही इसके ज्ञाता हैं। इसका वर्णन पन्द्रहवें अध्याय में हुआ है। प्रत्येक शास्त्र, प्रत्येक वेद का लक्ष्य भक्ति है। *भगवद्गीता* में इसी की व्याख्या है।

जिस प्रकार द्वितीय अध्याय में सम्पूर्ण विषयवस्तु की प्रस्तावना (सार) का वर्णन है, उसी प्रकार अठारहवें अध्याय में सारे उपदेश का सारांश दिया गया है। इसमें त्याग (वैराग्य) तथा त्रिगुणातीत दिव्य पथ की प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य बताया गया है। अर्जुन *भगवद्गीता* के दो विषयों का स्पष्ट अन्तर जानने का इच्छुक है—ये हैं, त्याग तथा संन्यास। अतएव वह इन दोनों शब्दों के अर्थ की जिज्ञासा कर रहा है।

इस श्लोक में परमेश्वर को सम्बोधित करने के लिए प्रयुक्त *हृषीकेश* तथा *केशिनिषूदन*—ये दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। हृषीकेश कृष्ण हैं, समस्त इन्द्रियों के स्वामी, जो हमें मानसिक शान्ति प्राप्त करने में सहायक बनते हैं। अर्जुन उनसे प्रार्थना करता है कि वे सभी बातों को इस तरह संक्षिप्त कर दें, जिससे वह समभाव में स्थिर रहे। फिर भी उसके मन में कुछ संशय हैं और ये संशय असुरों के समान होते हैं। अतएव वह कृष्ण को केशि-निषूदन कहकर सम्बोधित करता है। केशी अत्यन्त दुर्जेय असुर था, जिसका वध कृष्ण ने किया था। अब अर्जुन चाहता है कि वे उसके संशय रूपी असुर का वध करें।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **काम्यानाम्**—काम्यकर्मों का; **कर्मणाम्**—कर्मों का; **न्यासम्**—त्याग; **संन्यासम्**—संन्यास; **कवयः**—विद्वान जन; **विदुः**—जानते हैं; **सर्व**—समस्त; **कर्म**—कर्मों का; **फल**—फल; **त्यागम्**—त्याग को; **प्राहुः**—कहते हैं; **त्यागम्**—त्याग; **विचक्षणाः**—अनुभवी।

भगवान् ने कहा—भौतिक इच्छा पर आधारित कर्मों के परित्याग को विद्वान लोग संन्यास कहते हैं और समस्त कर्मों के फल-त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं।

तात्पर्य : कर्मफल की आकांक्षा से किये गये कर्म का त्याग करना चाहिए। यही *भगवद्गीता* का उपदेश है। लेकिन जिन कर्मों से उच्च आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो, उनका परित्याग नहीं करना चाहिए। अगले श्लोकों से यह स्पष्ट हो जायगा। वैदिक साहित्य में किसी विशेष उद्देश्य से यज्ञ सम्पन्न करने की अनेक विधियों का उल्लेख है। कुछ यज्ञ ऐसे हैं, जो अच्छी सन्तान प्राप्त करने के लिए या स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं, लेकिन जो यज्ञ इच्छाओं के वशीभूत हों, उनको बन्द करना चाहिए। परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति या हृदय की शुद्धि के लिए किये जाने वाले यज्ञों का परित्याग करना उचित नहीं है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

त्याज्यम्—त्याजनीय; **दोष-वत्**—दोष के समान; **इति**—इस प्रकार; **एके**—एक समूह के; **कर्म**—कर्म; **प्राहुः**—कहते हैं; **मनीषिणः**—महान चिन्तक; **यज्ञ**—यज्ञ; **दान**—दान; **तपः**—तथा तपस्या का; **कर्म**—कर्म; **न**—कभी नहीं; **त्याज्यम्**—त्यागने चाहिए; **इति**—इस प्रकार; **च**—तथा; **अपरे**—अन्य।

कुछ विद्वान घोषित करते हैं कि समस्त प्रकार के सकाम कर्मों को दोषपूर्ण समझ कर त्याग देना चाहिए। किन्तु अन्य विद्वान् मानते हैं कि यज्ञ, दान तथा तपस्या के कर्मों को कभी नहीं त्यागना चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक कर्म हैं जिनके विषय में मतभेद है। उदाहरणार्थ, यह कहा जाता है कि यज्ञ में पशु मारा जा सकता है, फिर भी कुछ का मत है कि पशुहत्या पूर्णतया निषिद्ध है। यद्यपि वैदिक साहित्य में पशु-वध की संस्तुति हुई है, लेकिन पशु को मारा गया नहीं माना जाता। यह बलि पशु को नवीन जीवन प्रदान करने के लिए होती है। कभी-कभी यज्ञ में मारे गये पशु को नवीन पशु-जीवन प्राप्त होता है, तो कभी वह पशु तत्क्षण मनुष्य योनि को प्राप्त हो जाता है। लेकिन इस सम्बन्ध में मनीषियों में मतभेद है। कुछ का कहना है कि पशुहत्या नहीं की जानी चाहिए और कुछ कहते हैं कि विशेष यज्ञ (बलि) के लिए यह शुभ है। अब यज्ञ-कर्म विषयक विभिन्न मतों का स्पष्टीकरण भगवान् स्वयं कर रहे हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

निश्चयम्—निश्चय को; **शृणु**—सुनो; **मे**—मेरे; **तत्र**—वहाँ; **त्यागे**—त्याग के विषय में; **भरत-सत्-तम**—हे भरतश्रेष्ठ; **त्यागः**—त्याग; **हि**—निश्चय ही; **पुरुष-व्याघ्र**—हे मनुष्यों में बाघ; **त्रि-विधः**—तीन प्रकार का; **सम्प्रकीर्तितः**—घोषित किया जाता है।

हे भरतश्रेष्ठ! अब त्याग के विषय में मेरा निर्णय सुनो। हे नरशार्दूल! शास्त्रों में त्याग तीन तरह का बताया गया है।

तात्पर्य : यद्यपि त्याग के विषय में विभिन्न प्रकार के मत हैं, लेकिन परम पुरुष श्रीकृष्ण

अपना निर्णय दे रहे हैं, जिसे अन्तिम माना जाना चाहिए। निस्सन्देह, सारे वेद भगवान् द्वारा प्रदत्त विभिन्न विधान (नियम) हैं। यहाँ पर भगवान् साक्षात् उपस्थित हैं, अतएव उनके वचनों को अन्तिम मान लेना चाहिए। भगवान् कहते हैं कि भौतिक प्रकृति के तीन गुणों में से जिस गुण में त्याग किया जाता है, उसी के अनुसार त्याग का प्रकार समझना चाहिए।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

यज्ञ—यज्ञ; **दान**—दान; **तपः**—तथा तप का; **कर्म**—कर्म; **न**—कभी नहीं; **त्याज्यम्**—त्यागने के योग्य; **कार्यम्**—करना चाहिए; **एव**—निश्चय ही; **तत्**—उसे; **यज्ञः**—यज्ञ; **दानम्**—दान; **तपः**—तप; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **पावनानि**—शुद्ध करने वाले; **मनीषिणाम्**—महात्माओं के लिए भी।

यज्ञ, दान तथा तपस्या के कर्मों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए, उन्हें अवश्य सम्पन्न करना चाहिए। निस्सन्देह यज्ञ, दान तथा तपस्या महात्माओं को भी शुद्ध बनाते हैं।

तात्पर्य : योगी को चाहिए कि मानव समाज की उन्नति के लिए कर्म करे। मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन तक ऊपर उठाने के लिए अनेक संस्कार (पवित्र कर्म) हैं। उदाहरणार्थ, विवाहोत्सव एक यज्ञ माना जाता है। यह विवाह-यज्ञ कहलाता है। क्या एक संन्यासी, जिसने अपना पारिवारिक सम्बन्ध त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया है, विवाहोत्सव को प्रोत्साहन दे? भगवान् कहते हैं कि कोई भी यज्ञ जो मानव कल्याण के लिए हो, उसका कभी भी परित्याग न करे। विवाह-यज्ञ मानव मन को संयमित करने के लिए है, जिससे आध्यात्मिक प्रगति के लिए वह शान्त बन सके। संन्यासी को भी चाहिए कि इस विवाह-यज्ञ की संस्तुति अधिकांश मनुष्यों के लिए करे। संन्यासियों को चाहिए कि स्त्रियों का संग न करें, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि जो व्यक्ति अभी जीवन की निम्न अवस्थाओं में है, अर्थात् जो तरुण है, वह विवाह-यज्ञ में पत्नी न स्वीकार करे। सारे यज्ञ परमेश्वर की प्राप्ति के लिए हैं। अतएव निम्नतर अवस्थाओं में यज्ञों का परित्याग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार दान हृदय की शुद्धि (संस्कार) के लिए है। यदि दान सुपात्र को दिया जाता है, तो इससे आध्यात्मिक जीवन में प्रगति होती है, जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

एतानि—ये सब; **अपि**—निश्चय ही; **तु**—लेकिन; **कर्माणि**—कार्य; **सङ्गम्**—संगति को; **त्यक्त्वा**—त्यागकर; **फलानि**—फलों को; **च**—भी; **कर्तव्यानि**—कर्तव्य समझ कर करने चाहिए; **इति**—इस प्रकार; **मे**—मेरा; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **निश्चितम्**—निश्चित; **मतम्**—मत; **उत्तमम्**—श्रेष्ठ।

इन सारे कार्यों को किसी प्रकार की आसक्ति या फल की आशा के बिना सम्पन्न करना चाहिए। हे पृथापुत्र! इन्हें कर्तव्य मानकर सम्पन्न किया जाना चाहिए। यही

मेरा अन्तिम मत है।

तात्पर्य : यद्यपि सारे यज्ञ शुद्ध करने वाले हैं, लेकिन मनुष्य को ऐसे कार्यों से किसी फल की इच्छा नहीं करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, जीवन में जितने सारे यज्ञ भौतिक उन्नति के लिए हैं, उनका परित्याग करना चाहिए। लेकिन जिन यज्ञों से मनुष्य का अस्तित्व शुद्ध हो और जो आध्यात्मिक स्तर तक उठाने वाले हों, उनको कभी बन्द नहीं करना चाहिए। जिस किसी वस्तु से कृष्णभावनामृत तक पहुँचा जा सके, उसको प्रोत्साहन देना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* में भी यह कहा गया है कि जिस कार्य से भगवद्भक्ति का लाभ हो, उसे स्वीकार करना चाहिए। यही धर्म की सर्वोच्च कसौटी है। भगवद्भक्त को ऐसे किसी भी कर्म, यज्ञ या दान को स्वीकार करना चाहिए, जो भगवद्भक्ति करने में सहायक हो।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

नियतस्य—नियत, निर्दिष्ट (कार्य) का; **तु**—लेकिन; **संन्यासः**—संन्यास, त्याग; **कर्मणः**—कर्मों का; **न**—कभी नहीं; **उपपद्यते**—योग्य होता है; **मोहात्**—मोहवश; **तस्य**—उसका; **परित्यागः**—त्याग देना; **तामसः**—तमोगुणी; **परिकीर्तितः**—घोषित किया जाता है।

निर्दिष्ट कर्तव्यों को कभी नहीं त्यागना चाहिए। यदि कोई मोहवश अपने नियत कर्मों का परित्याग कर देता है, तो ऐसे त्याग को तामसी कहा जाता है।

तात्पर्य : जो कार्य भौतिक तुष्टि के लिए किया जाता है, उसे अवश्य ही त्याग दे, लेकिन जिन कार्यों से आध्यात्मिक उन्नति हो, यथा भगवान् के लिए भोजन बनाना, भगवान् को भोग अर्पित करना, फिर प्रसाद ग्रहण करना, उनकी संस्तुति की जाती है। कहा जाता है कि संन्यासी को अपने लिए भोजन नहीं बनाना चाहिए। लेकिन अपने लिए भोजन पकाना भले ही वर्जित हो, परमेश्वर के लिए भोजन पकाना वर्जित नहीं है। इसी प्रकार अपने शिष्य की कृष्णभावनामृत में प्रगति करने में सहायक बनने के लिए संन्यासी विवाह-यज्ञ सम्पन्न करा सकता है। यदि कोई ऐसे कार्यों का परित्याग कर देता है, तो यह समझना चाहिए कि वह तमोगुण के अधीन है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

दुःखम्—दुखी; **इति**—इस प्रकार; **एव**—निश्चय ही; **यत्**—जो; **कर्म**—कार्य; **काय**—शरीर के लिए; **क्लेश**—कष्ट के; **भयात्**—भय से; **त्यजेत्**—त्याग देता है; **सः**—वह; **कृत्वा**—करके; **राजसम्**—रजोगुण में; **त्यागम्**—त्याग; **न**—नहीं; **एव**—निश्चय ही; **त्याग**—त्याग; **फलम्**—फल को; **लभेत्**—प्राप्त करता है।

जो व्यक्ति नियत कर्मों को कष्टप्रद समझ कर या शारीरिक क्लेश के भय से त्याग देता है, उसके लिए कहा जाता है कि उसने यह त्याग रजोगुण में किया है। ऐसा

करने से कभी त्याग का उच्चफल प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य : जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत को प्राप्त है, उसे इस भय से अर्थोपार्जन बन्द नहीं करना चाहिए कि वह सकाम कर्म कर रहा है। यदि कोई कार्य करके कमाये धन को कृष्णभावनामृत में लगाता है, या यदि कोई प्रातःकाल जल्दी उठकर दिव्य कृष्णभावनामृत को अग्रसर करता है, तो उसे चाहिए कि वह डर कर या यह सोचकर कि ऐसे कार्य कष्टप्रद हैं, उन्हें त्यागे नहीं। ऐसा त्याग राजसी होता है। राजसी कर्म का फल सदैव दुखद होता है। यदि कोई व्यक्ति इस भाव से कर्म त्याग करता है, तो उसे त्याग का फल कभी नहीं मिल पाता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

कार्यम्—करणीय; **इति**—इस प्रकार; **एव**—निस्सन्देह; **यत्**—जो; **कर्म**—कर्म; **नियतम्**—निर्दिष्ट; **क्रियते**—किया जाता है; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **सङ्गम्**—संगति, संग; **त्यक्त्वा**—त्याग कर; **फलम्**—फल; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **सः**—वह; **त्यागः**—त्याग; **सात्त्विकः**—सात्त्विक, सतोगुणी; **मतः**—मेरे मत से।

हे अर्जुन! जब मनुष्य नियत कर्तव्य को करणीय मान कर करता है और समस्त भौतिक संगति तथा फल की आसक्ति को त्याग देता है, तो उसका त्याग सात्त्विक कहलाता है।

तात्पर्य : नियत कर्म इसी मनोभाव से किया जाना चाहिए। मनुष्य को फल के प्रति अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए, उसे कर्म के गुणों से विलग हो जाना चाहिए। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में रहकर कारखाने में कार्य करता है, वह न तो कारखाने के कार्य से अपने को जोड़ता है, न ही कारखाने के श्रमिकों से। वह तो मात्र कृष्ण के लिए कार्य करता है। और जब वह इसका फल कृष्ण को अर्पण कर देता है, तो वह दिव्य स्तर पर कार्य करता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

न—नहीं; **द्वेष्टि**—घृणा करता है; **अकुशलम्**—अशुभ; **कर्म**—कर्म; **कुशले**—शुभ में; **न**—न तो; **अनुषज्जते**—आसक्त होता है; **त्यागी**—त्यागी; **सत्त्व**—सतोगुण में; **समाविष्टः**—लीन; **मेधावी**—बुद्धिमान; **छिन्न**—छिन्न हुए; **संशयः**—समस्त संशय या संदेह।

सतोगुण में स्थित बुद्धिमान त्यागी, जो न तो अशुभ कर्म से घृणा करता है, न शुभकर्म से लिप्त होता है, वह कर्म के विषय में कोई संशय नहीं रखता।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति या सतोगुणी व्यक्ति न तो किसी व्यक्ति से घृणा करता है, न अपने शरीर को कष्ट देने वाली किसी बात से। वह उपयुक्त स्थान पर तथा उचित समय पर, बिना डरे, अपना कर्तव्य करता है। ऐसे व्यक्ति को, जो अध्यात्म को प्राप्त

है, सर्वाधिक बुद्धिमान तथा अपने कर्मों में संशयरहित मानना चाहिए।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

न—कभी नहीं; **हि**—निश्चय ही; **देह-भृता**—देहधारी द्वारा; **शक्यम्**—सम्भव है; **त्यक्तुम्**—त्यागने के लिए; **कर्माणि**—कर्म; **अशेषतः**—पूर्णतया; **यः**—जो; **तु**—लेकिन; **कर्म**—कर्म के; **फल**—फल का; **त्यागी**—त्याग करने वाला; **सः**—वह; **त्यागी**—त्यागी; **इति**—इस प्रकार; **अभिधीयते**—कहलाता है।

निस्सन्देह किसी भी देहधारी प्राणी के लिए समस्त कर्मों का परित्याग कर पाना असम्भव है। लेकिन जो कर्मफल का परित्याग करता है, वह वास्तव में त्यागी कहलाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य कभी भी कर्म का त्याग नहीं कर सकता। अतएव जो कृष्ण के लिए कर्म करता है और कर्मफलों को भोगता नहीं तथा जो कृष्ण को सब कुछ अर्पित करता है, वही वास्तविक त्यागी है। अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ में अनेक सदस्य हैं, जो अपने अपने कार्यालयों, कारखानों या अन्य स्थानों में कठिन श्रम करते हैं और वे जो कुछ कमाते हैं, उसे संघ को दान दे देते हैं। ऐसे महात्मा व्यक्ति वास्तव में संन्यासी हैं और वे संन्यास में स्थित होते हैं। यहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि कर्मफलों का परित्याग किस प्रकार और किस प्रयोजन के लिए किया जाय।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

अनिष्टम्—नरक ले जाने वाले; **इष्टम्**—स्वर्ग ले जाने वाले; **मिश्रम्**—मिश्रित; **च**—तथा; **त्रि-विधम्**—तीन प्रकार; **कर्मणः**—कर्म का; **फलम्**—फल; **भवति**—होता है; **अत्यागिनाम्**—त्याग न करने वालों को; **प्रेत्य**—मरने के बाद; **न**—नहीं; **तु**—लेकिन; **संन्यासिनाम्**—संन्यासी के लिए; **क्वचित्**—किसी समय, कभी।

जो त्यागी नहीं है, उसके लिए इच्छित (इष्ट), अनिच्छित (अनिष्ट) तथा मिश्रित—ये तीन प्रकार के कर्मफल मृत्यु के बाद मिलते हैं। लेकिन जो संन्यासी हैं, उन्हें ऐसे फल का सुख-दुख नहीं भोगना पड़ता।

तात्पर्य : जो कृष्णभावनामय व्यक्ति कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को जानते हुए कर्म करता है, वह सदैव मुक्त रहता है। अतएव उसे मृत्यु के पश्चात् अपने कर्मफलों का सुख-दुख नहीं भोगना पड़ता।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

पञ्च—पाँच; **एतानि**—ये; **महा-बाहो**—हे महाबाहु; **कारणानि**—कारण; **निबोध**—जानो; **मे**—मुझसे; **साङ्ख्ये**—वेदान्त में; **कृत-अन्ते**—निष्कर्ष रूप में; **प्रोक्तानि**—कहा गया; **सिद्धये**—सिद्धि के लिए; **सर्व**—समस्त; **कर्मणाम्**—कर्मों का।

हे महाबाहु अर्जुन! वेदान्त के अनुसार समस्त कर्म की पूर्ति के लिए पाँच कारण हैं। अब तुम इन्हें मुझसे सुनो।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रश्न पूछा जा सकता है कि चूँकि प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ फल होता है, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि कृष्णभावनामय व्यक्ति को कर्म के फलों का सुख-दुख नहीं भोगना पड़ता? भगवान् वेदान्त दर्शन का उदाहरण यह दिखाने के लिए देते हैं कि यह किस प्रकार सम्भव है। वे कहते हैं कि समस्त कर्मों के पाँच कारण होते हैं। अतएव किसी कर्म में सफलता के लिए इन पाँचों कारणों पर विचार करना होगा। सांख्य का अर्थ है ज्ञान का आधारस्तम्भ और वेदान्त अग्रणी आचार्यों द्वारा स्वीकृत ज्ञान का चरम आधारस्तम्भ है यहाँ तक कि शंकर भी वेदान्तसूत्र को इसी रूप में स्वीकार करते हैं। अतएव ऐसे शास्त्र की राय ग्रहण करनी चाहिए।

चरम नियन्त्रण परमात्मा में निहित है। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः*—वे प्रत्येक व्यक्ति को उसके पूर्वकर्मों का स्मरण करा कर किसी न किसी कार्य में प्रवृत्त करते रहते हैं। और जो कृष्णभावनाभावित कर्म अन्तर्यामी भगवान् के निर्देशानुसार किये जाते हैं, उनका फल न तो इस जीवन में, न ही मृत्यु के पश्चात् मिलता है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥१४॥

अधिष्ठानम्—स्थान; **तथा**—और; **कर्ता**—करने वाला; **करणम्**—उपकरण यन्त्र (इन्द्रियाँ); **च**—तथा; **पृथक्-विधम्**—विभिन्न प्रकार के; **विविधाः**—नाना प्रकार के; **च**—तथा; **पृथक्**—पृथक पृथक; **चेष्टाः**—प्रयास; **दैवम्**—परमात्मा; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **अत्र**—यहाँ; **पञ्चमम्**—पाँचवा।

कर्म का स्थान (शरीर), कर्ता, विभिन्न इन्द्रियाँ, अनेक प्रकार की चेष्टाएँ तथा परमात्मा—ये पाँच कर्म के कारण हैं।

तात्पर्य : *अधिष्ठानम्* शब्द शरीर के लिए आया है। शरीर के भीतर आत्मा कर्म करता है, जिससे कर्मफल होता है। अतएव यह कर्ता कहलाता है। आत्मा ही ज्ञाता तथा कर्ता है, इसका उल्लेख श्रुति में है। *एष हि द्रष्टा स्रष्टा* (*प्रश्न उपनिषद्* ४.९)। वेदान्तसूत्र में भी *ज्ञोऽतएव* (२.३.१८) *तथा कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्* (२.३. ३३) श्लोकों से इसकी पुष्टि होती है। कर्म के उपकरण इन्द्रियाँ हैं और आत्मा इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न कर्म करता है। प्रत्येक कर्म के लिए पृथक चेष्टा होती है। लेकिन सारे कार्यकलाप परमात्मा की इच्छा पर निर्भर करते हैं, जो प्रत्येक हृदय में मित्र रूप में आसीन है। परमेश्वर परम कारण है। अतएव जो इन परिस्थितियों में अन्तर्यामी परमात्मा के निर्देश के अन्तर्गत कृष्णभावनामय होकर कर्म करता है, वह किसी कर्म से बँधता नहीं। जो पूर्ण कृष्णभावनामय हैं, वे अन्ततः अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं होते। सब कुछ परम इच्छा, परमात्मा, भगवान् पर निर्भर है।

शरीरवाङ्‌मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥१५॥

शरीर—शरीर से; **वाक्**—वाणी से; **मनोभिः**—तथा मन से; **यत्**—जो; **कर्म**—कर्म; **प्रारभते**—प्रारम्भ करता है; **नरः**—व्यक्ति; **न्याय्यम्**—उचित, न्यायपूर्ण; **वा**—अथवा; **विपरीतम्**—(न्याय)विरुद्ध; **वा**—अथवा; **पञ्च**—पाँच; **एते**—ये सब; **तस्य**—उसके; **हेतवः**—कारण।

मनुष्य अपने शरीर, मन या वाणी से जो भी उचित या अनुचित कर्म करता है, वह इन पाँच कारणों के फलस्वरूप होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *न्याय्य* (उचित) तथा *विपरीत* (अनुचित) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सही कार्य शास्त्रों में निर्दिष्ट निर्देशों के अनुसार किया जाता है और अनुचित कार्य में शास्त्रीय आदेशों की अवहेलना की जाती है। किन्तु जो भी कर्म किया जाता है, उसकी पूर्णता के लिए इन पाँच कारणों की आवश्यकता पड़ती है।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१६॥

तत्र—वहाँ; **एवम्**—इस प्रकार; **सति**—होकर; **कर्तारम्**—कर्ता; **आत्मानम्**—स्वयं का; **केवलम्**—केवल; **तु**—लेकिन; **यः**—जो; **पश्यति**—देखता है; **अकृत-बुद्धित्वात्**—कुबुद्धि के कारण; **न**—कभी नहीं; **सः**—वह; **पश्यति**—देखता है; **दुर्मतिः**—मूर्ख।

अतएव जो इन पाँचों कारणों को न मान कर अपने आपको ही एकमात्र कर्ता मानता है, वह निश्चय ही बहुत बुद्धिमान नहीं होता और वस्तुओं को सही रूप में नहीं देख सकता।

तात्पर्य : मूर्ख व्यक्ति यह नहीं समझता कि परमात्मा उसके अन्तर में मित्र रूप में बैठा है और उसके कर्मों का संचालन कर रहा है। यद्यपि स्थान, कर्ता, चेष्टा तथा इन्द्रियाँ भौतिक कारण हैं, लेकिन अन्तिम (मुख्य) कारण तो स्वयं भगवान् हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि केवल चार भौतिक कारणों को ही न देखे, अपितु परम सक्षम कारण को भी देखे। जो परमेश्वर को नहीं देखता, वह अपने आपको ही कर्ता मानता है।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥१७॥

यस्य—जिसके; **न**—नहीं; **अहङ्कृतः**—मिथ्या अहंकार का; **भावः**—स्वभाव; **बुद्धिः**—बुद्धि; **यस्य**—जिसकी; **न**—कभी नहीं; **लिप्यते**—आसक्त होता है; **हत्वा**—मारकर; **अपि**—भी; **सः**—वह; **इमान्**—इस; **लोकान्**—संसार को; **न**—कभी नहीं; **हन्ति**—मारता है; **न**—कभी नहीं; **निबध्यते**—बद्ध होता है।

जो मिथ्या अहंकार से प्रेरित नहीं है, जिसकी बुद्धि बँधी नहीं है, वह इस संसार में मनुष्यों को मारता हुआ भी नहीं मारता। न ही वह अपने कर्मों से बँधा होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् अर्जुन को बताते हैं कि युद्ध न करने की इच्छा अहंकार से उत्पन्न होती है। अर्जुन स्वयं को कर्ता मान बैठा था, लेकिन उसने अपने भीतर तथा बाहर परम (परमात्मा) के निर्देश पर विचार नहीं किया था। यदि कोई यह न जाने कि कोई परम निर्देश भी है, तो वह कर्म क्यों करे? लेकिन जो व्यक्ति कर्म के उपकरणों को, कर्ता रूप में अपने को तथा परम निर्देशक के रूप में परमेश्वर को मानता है, वह प्रत्येक कार्य को पूर्ण करने में सक्षम है। ऐसा व्यक्ति कभी मोहग्रस्त नहीं होता। जीव में व्यक्तिगत कार्यकलाप तथा उसके उत्तरदायित्व का उदय मिथ्या अहंकार से तथा ईश्वरविहीनता या कृष्णभावनामृत के अभाव से होता है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में परमात्मा या भगवान् के आदेशानुसार कर्म करता है, वह वध करता हुआ भी वध नहीं करता। न ही वह कभी ऐसे वध के फल भोगता है। जब कोई सैनिक अपने श्रेष्ठ अधिकारी सेनापति की आज्ञा से वध करता है, तो उसको दण्डित नहीं किया जाता। लेकिन यदि वही सैनिक स्वेच्छा से वध कर दे, तो निश्चित रूप से न्यायालय द्वारा उसका निर्णय होता है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥१८॥

ज्ञानम्—ज्ञान; **ज्ञेयम्**—ज्ञान का लक्ष्य (जानने योग्य); **परिज्ञाता**—जानने वाला; **त्रि-विधा**—तीन प्रकार के; **कर्म**—कर्म की; **चोदना**—प्रेरणा (अनुप्रेरणा); **करणम्**—इन्द्रियाँ; **कर्म**—कर्म; **कर्ता**—कर्ता; **इति**—इस प्रकार; **त्रि-विधः**—तीन प्रकार के; **कर्म**—कर्म के; **सङ्ग्रहः**—संग्रह, संचय।

ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता—ये तीनों कर्म को प्रेरणा देने वाले कारण हैं। इन्द्रियाँ (करण), कर्म तथा कर्ता—ये तीन कर्म के संघटक हैं।

तात्पर्य : दैनिक कार्य के लिए तीन प्रकार की प्रेरणाएँ हैं—ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता। कर्म का उपकरण (करण), स्वयं कर्म तथा कर्ता—ये तीनों कर्म के संघटक कहलाते हैं। किसी भी मनुष्य द्वारा किये गये किसी कर्म में ये ही तत्त्व रहते हैं। कर्म करने के पूर्व कुछ न कुछ प्रेरणा होती है। किसी भी कर्म से पहले प्राप्त होने वाला फल कर्म के सूक्ष्म रूप में वास्तविक बनता है। इसके बाद वह क्रिया का रूप धारण करता है। पहले मनुष्य को सोचने, अनुभव करने तथा इच्छा करने जैसी मनोवैज्ञानिक विधियों का सामना करना होता है, जिसे प्रेरणा कहते हैं और यह प्रेरणा चाहे शास्त्रों से प्राप्त हो, या गुरु के उपदेश से, एकसी होती है। जब प्रेरणा होती है और जब कर्ता होता है, तो इन्द्रियों की सहायता से, जिनमें मन सम्मिलित है और जो समस्त इन्द्रियों का केन्द्र है, वास्तविक कर्म सम्पन्न होता है। किसी कर्म के समस्त संघटकों को कर्म-संग्रह कहा जाता है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥१९॥

ज्ञानम्—ज्ञान; **कर्म**—कर्म; **च**—भी; **कर्ता**—कर्ता; **च**—भी; **त्रिधा**—तीन प्रकार का; **एव**—निश्चय ही; **गुण-भेदतः**—प्रकृति के विभिन्न गुणों के अनुसार; **प्रोच्यते**—कहे जाते हैं; **गुण-सङ्ख्याने**—विभिन्न

गुणों के रूप में; **यथा-वत्**—जिस रूप में हैं उसी में; **शृणु**—सुनो; **तानि**—उन सबों को; **अपि**—भी।

प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार ही ज्ञान, कर्म तथा कर्ता के तीन-तीन भेद हैं। अब तुम मुझसे इन्हें सुनो।

तात्पर्य : चौदहवें अध्याय में प्रकृति के तीन गुणों का विस्तार से वर्णन हो चुका है। उस अध्याय में कहा गया था कि सतोगुण प्रकाशक होता है, रजोगुण भौतिकवादी तथा तमोगुण आलस्य तथा प्रमाद का प्रेरक होता है। प्रकृति के सारे गुण बन्धनकारी हैं, वे मुक्ति के साधन नहीं हैं। यहाँ तक कि सतोगुण में भी मनुष्य बद्ध रहता है। सत्रहवें अध्याय में विभिन्न प्रकार के मनुष्यों द्वारा विभिन्न गुणों में रहकर की जाने वाली विभिन्न प्रकार की पूजा का वर्णन किया गया। इस श्लोक में भगवान् कहते हैं कि वे तीनों गुणों के अनुसार विभिन्न प्रकार के ज्ञान, कर्ता तथा कर्म के विषय में बताना चाहते हैं।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों में; **येन**—जिससे; **एकम्**—एक; **भावम्**—स्थिति; **अव्ययम्**—अविनाशी; **ईक्षते**—देखता है; **अविभक्तम्**—अविभाजित; **विभक्तेषु**—अनन्त विभागों में बँटे हुए में; **तत्**—उस; **ज्ञानम्**—ज्ञान को; **विद्धि**—जानो; **सात्त्विकम्**—सतोगुणी।

जिस ज्ञान से अनन्त रूपों में विभक्त सारे जीवों में एक ही अविभक्त आध्यात्मिक प्रकृति देखी जाती है, उसे ही तुम सात्त्विक जानो।

तात्पर्य : जो व्यक्ति हर जीव में, चाहे वह देवता हो, मनुष्य हो, पशु-पक्षी हो या जलजन्तु अथवा पौधा हो, एक ही आत्मा को देखता है, उसे सात्त्विक ज्ञान प्राप्त रहता है। समस्त जीवों में एक ही आत्मा है, यद्यपि पूर्व कर्मों के अनुसार उनके शरीर भिन्न-भिन्न हैं। जैसाकि सातवें अध्याय में वर्णन हुआ है, प्रत्येक शरीर में जीवनी शक्ति की अभिव्यक्ति परमेश्वर की पराप्रकृति के कारण होती है। उस एक पराप्रकृति, उस जीवनी शक्ति को प्रत्येक शरीर में देखना सात्त्विक दर्शन है। यह जीवनी शक्ति अविनाशी है, भले ही शरीर विनाशशील हों। जो आपसी भेद है, वह शरीर के कारण है। चूँकि बद्धजीवन में अनेक प्रकार के भौतिक रूप हैं, अतएव जीवनी शक्ति विभक्त प्रतीत होती है। ऐसा निराकार ज्ञान आत्म-साक्षात्कार का एक पहलू है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

पृथक्त्वेन—विभाजन के कारण; **तु**—लेकिन; **यत्**—जो; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **नाना-भावान्**—अनेक प्रकार की अवस्थाओं को; **पृथक्-विधान**—विभिन्न; **वेत्ति**—जानता है; **सर्वेषु**—समस्त; **भूतेषु**—जीवों में; **तत्**—उस; **ज्ञानम्**—ज्ञान को; **विद्धि**—जानो; **राजसम्**—राजसी।

जिस ज्ञान से कोई मनुष्य विभिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न प्रकार का जीव देखता है, उसे तुम राजसी जानो।

तात्पर्य : यह धारणा कि भौतिक शरीर ही जीव है और शरीर के विनष्ट होने पर चेतना भी नष्ट हो जाती है, राजसी ज्ञान है। इस ज्ञान के अनुसार एक शरीर दूसरे शरीर से भिन्न है, क्योंकि उनमें चेतना का विकास भिन्न प्रकार से होता है, अन्यथा चेतना को प्रकट करने वाला पृथक् आत्मा न रहे। शरीर स्वयं आत्मा है और शरीर के परे कोई पृथक् आत्मा नहीं है। इस ज्ञान के अनुसार चेतना अस्थायी है। या यह कि पृथक आत्माएँ नहीं होतीं; एक सर्वव्यापी आत्मा है, जो ज्ञान से पूर्ण है और यह शरीर क्षणिक अज्ञानता का प्रकाश है। या यह कि इस शरीर के परे कोई विशेष जीवात्मा या परम आत्मा नहीं है। ये सब धारणाएँ रजोगुण से उत्पन्न हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

यत्—जो; **तु**—लेकिन; **कृत्स्नवत्**—पूर्ण रूप से; **एकस्मिन्**—एक; **कार्ये**—कार्य में; **सक्तम्**—आसक्त; **अहैतुकम्**—बिना हेतु के; **अतत्त्व-अर्थ-वत्**—वास्तविकता के ज्ञान से रहित; **अल्पम्**—अति तुच्छ; **च**—तथा; **तत्**—वह; **तामसम्**—तमोगुणी; **उदाहृतम्**—कहा जाता है।

और वह ज्ञान, जिससे मनुष्य किसी एक प्रकार के कार्य को, जो अति तुच्छ है, सब कुछ मान कर, सत्य को जाने बिना उसमें लिप्त रहता है, तामसी कहा जाता है।

तात्पर्य : सामान्य मनुष्य का 'ज्ञान' सदैव तामसी होता है, क्योंकि प्रत्येक बद्धजीव तमोगुण में ही उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति प्रमाणों से या शास्त्रीय आदेशों के माध्यम से ज्ञान अर्जित नहीं करता, उसका ज्ञान शरीर तक ही सीमित रहता है। उसे शास्त्रों के आदेशानुसार कार्य करने की चिन्ता नहीं होती। उसके लिए धन ही ईश्वर है और ज्ञान का अर्थ शारीरिक आवश्यकताओं की तुष्टि है। ऐसे ज्ञान का परम सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह बहुत कुछ साधारण पशुओं के ज्ञान यथा खाने, सोने, रक्षा करने तथा मैथुन करने का ज्ञान जैसा है। ऐसे ज्ञान को यहाँ पर तमोगुण से उत्पन्न बताया गया है। दूसरे शब्दों में, इस शरीर से परे आत्मा सम्बन्धी ज्ञान सात्त्विक ज्ञान कहलाता है। जिस ज्ञान से लौकिक तर्क तथा चिन्तन (मनोधर्म) द्वारा नाना प्रकार के सिद्धान्त तथा वाद जन्म लें, वह राजसी है और शरीर को सुखमय बनाये रखने वाले ज्ञान को तामसी कहा जाता है।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

नियतम्—नियमित; **सङ्ग-रहितम्**—आसक्ति रहित; **अराग-द्वेषतः**—राग-द्वेष से रहित; **कृतम्**—किया गया; **अफल-प्रेप्सुना**—फल की इच्छा से रहित वाले के द्वारा; **कर्म**—कर्म; **यत्**—जो; **तत्**—वह; **सात्त्विकम्**—सतोगुणी; **उच्यते**—कहा जाता है।

जो कर्म नियमित है और जो आसक्ति, राग या द्वेष से रहित कर्मफल की चाह के बिना किया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है।

तात्पर्य : विभिन्न आश्रमों तथा समाज के वर्णों के आधार पर शास्त्रों में संस्तुत वृत्तिपरक कर्म, जो अनासक्त भाव से अथवा स्वामित्व के अधिकारों के बिना, प्रेम-घृणा-भावरहित परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए आसक्ति या अधिकार की भावना के बिना कृष्णभावनामृत में किये जाते हैं, सात्त्विक कहलाते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

यत्—जो; **तु**—लेकिन; **काम-ईप्सुना**—फल की इच्छा रखने वाले के द्वारा; **कर्म**—कर्म; **स-अहङ्कारेण**—अहंकार सहित; **वा**—अथवा; **पुनः**—फिर; **क्रियते**—किया जाता है; **बहुल-आयासम्**—कठिन परिश्रम से; **तत्**—वह; **राजसम्**—राजसी; **उदाहृतम्**—कहा जाता है।

लेकिन जो कार्य अपनी इच्छा पूर्ति के निमित्त प्रयासपूर्वक एवं मिथ्या अहंकार के भाव से किया जाता है, वह रजोगुणी कहा जाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

अनुबन्धम्—भावी बन्धन का; **क्षयम्**—विनाश; **हिंसाम्**—तथा अन्यों को कष्ट; **अनपेक्ष्य**—परिणाम पर विचार किये बिना; **च**—भी; **पौरुषम्**—सामर्थ्य को; **मोहात्**—मोह से; **आरभ्यते**—प्रारम्भ किया जाता है; **कर्म**—कर्म; **यत्**—जो; **तत्**—वह; **तामसम्**—तामसी; **उच्यते**—कहा जाता है।

जो कर्म मोहवश शास्त्रीय आदेशों की अवहेलना करके तथा भावी बन्धन की परवाह किये बिना या हिंसा अथवा अन्यों को दुख पहुँचाने के लिए किया जाता है, वह तामसी कहलाता है।

तात्पर्य : मनुष्य को अपने कर्मों का लेखा राज्य को अथवा परमेश्वर के दूतों को, जिन्हें यमदूत कहते हैं, देना होता है। उत्तरदायित्वहीन कर्म विनाशकारी है, क्योंकि इससे शास्त्रीय आदेशों का विनाश होता है। यह प्रायः हिंसा पर आधारित होता है और अन्य जीवों के लिए दुखदायी होता है। उत्तरदायित्व से हीन ऐसा कर्म अपने निजी अनुभव के आधार पर किया जाता है। यह मोह कहलाता है। ऐसा समस्त मोहग्रस्त कर्म तमोगुण के फलस्वरूप होता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

मुक्त-सङ्गः—सारे भौतिक संसर्ग से मुक्त; **अनहम्-वादी**—मिथ्या अहंकार से रहित; **धृति**—संकल्प; **उत्साह**—तथा उत्साह सहित; **समन्वितः**—योग्य; **सिद्धि**—सिद्धि; **असिद्ध्योः**—तथा विफलता में; **निर्विकारः**—बिना परिवर्तन के; **कर्ता**—कर्ता; **सात्त्विकः**—सतोगुणी; **उच्यते**—कहा जाता है।

जो व्यक्ति भौतिक गुणों के संसर्ग के बिना अहंकाररहित, संकल्प तथा उत्साहपूर्वक अपना कर्म करता है और सफलता अथवा असफलता में अविचलित रहता है, वह

सात्त्विक कर्ता कहलाता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामय व्यक्ति सदैव प्रकृति के गुणों से अतीत होता है। उसे अपने को सौंपे गये कर्म के परिणाम की कोई आकांक्षा नहीं रहती, क्योंकि वह मिथ्या अहंकार तथा घमंड से परे होता है। फिर भी कार्य के पूर्ण होने तक वह सदैव उत्साह से पूर्ण रहता है। उसे होने वाले कष्टों की कोई चिन्ता नहीं होती, वह सदैव उत्साहपूर्ण रहता है। वह सफलता या विफलता की परवाह नहीं करता, वह सुख-दुख में समभाव रहता है। ऐसा कर्ता सात्त्विक है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

रागी—अत्यधिक आसक्त; **कर्म-फल**—कर्म के फल की; **प्रेप्सुः**—इच्छा करते हुए; **लुब्धः**—लालची; **हिंसा-आत्मकः**—सदैव ईर्ष्यालु; **अशुचिः**—अपवित्र; **हर्ष-शोक-अन्वितः**—हर्ष तथा शोक से युक्त; **कर्ता**—ऐसा कर्ता; **राजसः**—रजोगुणी; **परिकीर्तितः**—घोषित किया जाता है।

जो कर्ता कर्म तथा कर्म-फल के प्रति आसक्त होकर फलों का भोग करना चाहता है तथा जो लोभी, सदैव ईर्ष्यालु, अपवित्र और सुख-दुख से विचलित होने वाला है, वह राजसी कहा जाता है।

तात्पर्य : मनुष्य सदैव किसी कार्य के प्रति या फल के प्रति इसलिए अत्यधिक आसक्त रहता है, क्योंकि वह भौतिक पदार्थों, घर-बार, पत्नी तथा पुत्र के प्रति अत्यधिक अनुरक्त होता है। ऐसा व्यक्ति जीवन में ऊपर उठने की आकांक्षा नहीं रखता। वह इस संसार को यथासम्भव आरामदेह बनाने में ही व्यस्त रहता है। सामान्यतः वह अत्यन्त लोभी होता है और सोचता है कि उसके द्वारा प्राप्त की गई प्रत्येक वस्तु स्थायी है और कभी नष्ट नहीं होगी। ऐसा व्यक्ति अन्यों से ईर्ष्या करता है और इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई भी अनुचित कार्य कर सकता है। अतएव ऐसा व्यक्ति अपवित्र होता है और वह इसकी चिन्ता नहीं करता कि उसकी कमाई शुद्ध है या अशुद्ध। यदि उसका कार्य सफल हो जाता है तो वह अत्यधिक प्रसन्न और असफल होने पर अत्यधिक दुखी होता है। रजोगुणी कर्ता ऐसा ही होता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८॥

अयुक्तः—शास्त्रों के आदेशों को न मानने वाला; **प्राकृतः**—भौतिकवादी; **स्तब्धः**—हठी; **शठः**—कपटी; **नैष्कृतिकः**—अन्यों का अपमान करने में पटु; **अलसः**—आलसी; **विषादी**—खिन्न; **दीर्घ-सूत्री**—ऊँघ-ऊँघ कर काम करने वाला, देर लगाने वाला; **च**—भी; **कर्ता**—कर्ता; **तामसः**—तमोगुणी; **उच्यते**—कहलाता है।

जो कर्ता सदा शास्त्रों के आदेशों के विरुद्ध कार्य करता रहता है, जो भौतिकवादी, हठी, कपटी तथा अन्यों का अपमान करने में पटु है तथा जो आलसी, सदैव खिन्न

तथा काम करने में दीर्घसूत्री है, वह तमोगुणी कहलाता है।

तात्पर्य : शास्त्रीय आदेशों से हमें पता चलता है कि हमें कौन सा काम करना चाहिए और कौन सा नहीं करना चाहिए। जो लोग शास्त्रों के आदेशों की अवहेलना करके अकरणीय कार्य करते हैं, प्रायः भौतिकवादी होते हैं। वे प्रकृति के गुणों के अनुसार कार्य करते हैं, शास्त्रों के आदेशों के अनुसार नहीं। ऐसे कर्ता भद्र नहीं होते और सामान्यतया सदैव कपटी (धूर्त) तथा अन्यों का अपमान करने वाले होते हैं। वे अत्यन्त आलसी होते हैं, काम होते हुए भी उसे ठीक से नहीं करते और बाद में करने के लिए उसे एक तरफ रख देते हैं, अतएव वे खिन्न रहते हैं। जो काम एक घंटे में हो सकता है, उसे वे वर्षों तक घसीटते जाते हैं—वे दीर्घसूत्री होते हैं। ऐसे कर्ता तमोगुणी होते हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ २९॥

बुद्धेः—बुद्धि का; **भेदम्**—अन्तर; **धृतेः**—धैर्य का; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **गुणतः**—गुणों के द्वारा; **त्रि-विधम्**—तीन प्रकार के; **शृणु**—सुनो; **प्रोच्यमानम्**—जैसा मेरे द्वारा कहा गया; **अशेषेण**—विस्तार से; **पृथक्त्वेन**—भिन्न प्रकार से; **धनञ्जय**—हे सम्पत्ति के विजेता।

हे धनञ्जय! अब मैं प्रकृति के तीनों गुणों के अनुसार तुम्हें विभिन्न प्रकार की बुद्धि तथा धृति के विषय में विस्तार से बताऊँगा। तुम इसे सुनो।

तात्पर्य : ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता की व्याख्या प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन-तीन पृथक् विभागों में करने के बाद अब भगवान् कर्ता की बुद्धि तथा उसके संकल्प (धैर्य) के विषय में उसी प्रकार से बता रहे हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥

प्रवृत्तिम्—कर्म को; **च**—भी; **निवृत्तिम्**—अकर्म को; **च**—तथा; **कार्य**—करणीय; **अकार्ये**—तथा अकरणीय में; **भय**—भय; **अभये**—तथा निडरता में; **बन्धम्**—बन्धन; **मोक्षम्**—मोक्ष; **च**—तथा; **या**—जो; **वेत्ति**—जानता है; **बुद्धिः**—बुद्धि; **सा**—वह; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **सात्त्विकी**—सतोगुणी।

हे पृथापुत्र! वह बुद्धि सतोगुणी है, जिसके द्वारा मनुष्य यह जानता है कि क्या करणीय है और क्या नहीं है, किससे डरना चाहिए और किससे नहीं, क्या बाँधने वाला है और क्या मुक्ति देने वाला है।

तात्पर्य : शास्त्रों के निर्देशानुसार कर्म करने को या उन कर्मों को करना जिन्हें किया जाना चाहिए, प्रवृत्ति कहते हैं। जिन कार्यों का इस तरह निर्देश नहीं होता वे नहीं किये जाने चाहिए। जो व्यक्ति शास्त्रों के निर्देशों को नहीं जानता, वह कर्मों तथा उनकी प्रतिक्रिया से बँध जाता है। जो बुद्धि अच्छे बुरे का भेद बताती है, वह सात्त्विकी है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

यया—जिसके द्वारा; **धर्मम्**—धर्म को; **अधर्मम्**—अधर्म को; **च**—तथा; **कार्यम्**—करणीय; **च**—भी; **अकार्यम्**—अकरणीय को; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **अयथा-वत्**—अधूरे ढंग से; **प्रजानाति**—जानती है; **बुद्धिः**—बुद्धि; **सा**—वह; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **राजसी**—रजोगुणी।

हे पृथापुत्र! जो बुद्धि धर्म तथा अधर्म, करणीय तथा अकरणीय कर्म में भेद नहीं कर पाती, वह राजसी है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

अधर्मम्—अधर्म को; **धर्मम्**—धर्म; **इति**—इस प्रकार; **या**—जो; **मन्यते**—सोचती है; **तमसा**—भ्रम से; **आवृता**—आच्छादित, ग्रस्त; **सर्व-अर्थान्**—सारी वस्तुओं को; **विपरीतान्**—उल्टी दिशा में; **च**—भी; **बुद्धिः**—बुद्धि; **सा**—वह; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **तामसी**—तमोगुण से युक्त।

जो बुद्धि मोह तथा अंधकार के वशीभूत होकर अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म मानती है और सदैव विपरीत दिशा में प्रयत्न करती है, हे पार्थ! वह तामसी है।

तात्पर्य : तामसी बुद्धि को जिस दिशा में काम करना चाहिए, उससे सदैव उल्टी दिशा में काम करती है। यह उन धर्मों को स्वीकारती है, जो वास्तव में धर्म नहीं हैं और वास्तविक धर्म को ठुकराती है। अज्ञानी मनुष्य महात्मा को सामान्य व्यक्ति मानते हैं और सामान्य व्यक्ति को महात्मा स्वीकार करते हैं। वे सत्य को असत्य तथा असत्य को सत्य मानते हैं। वे सारे कामों में कुपथ ग्रहण करते हैं, अतएव उनकी बुद्धि तामसी होती है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥

धृत्या—संकल्प, धृति द्वारा; **यया**—जिससे; **धारयते**—धारण करता है; **मनः**—मन को; **प्राण**—प्राण; **इन्द्रिय**—तथा इन्द्रियों के; **क्रियाः**—कार्यकलापों को; **योगेन**—योगाभ्यास द्वारा; **अव्यभिचारिण्या**—तोड़े बिना, निरन्तर; **धृतिः**—धृति; **सा**—वह; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **सात्त्विकी**—सात्त्विक।

हे पृथापुत्र! जो अटूट है, जिसे योगाभ्यास द्वारा अचल रहकर धारण किया जाता है और जो इस प्रकार मन, प्राण तथा इन्द्रियों के कार्यकलापों को वश में रखती है, वह धृति सात्त्विक है।

तात्पर्य : योग परमात्मा को जानने का साधन है। जो व्यक्ति मन, प्राण तथा इन्द्रियों को परमात्मा में एकाग्र करके दृढ़तापूर्वक उनमें स्थित रहता है, वही कृष्णभावना में तत्पर होता है। ऐसी धृति सात्त्विक होती है। *अव्यभिचारिण्या* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह सूचित करता है कि कृष्णभावनामृत में तत्पर मनुष्य कभी किसी दूसरे कार्य द्वारा विचलित नहीं होता।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।। ३४।।

यया—जिससे; **तु**—लेकिन; **धर्म**—धार्मिकता; **काम**—इन्द्रियतृप्ति; **अर्थान्**—तथा आर्थिक विकास को; **धृत्या**—संकल्प या धृति से; **धारयते**—धारण करता है; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **प्रसङ्गेन**—आसक्ति के कारण; **फल-आकाङ्क्षी**—कर्मफल की इच्छा करने वाला; **धृतिः**—संकल्प या धृति; **सा**—वह; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **राजसी**—रजोगुणी।

लेकिन हे अर्जुन! जिस धृति से मनुष्य धर्म, अर्थ तथा काम के फलों में लिप्त बना रहता है, वह राजसी है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति धार्मिक या आर्थिक कार्यों में कर्मफलों का सदैव आकांक्षी होता है, जिसकी एकमात्र इच्छा इन्द्रियतृप्ति होती है तथा जिसका मन, जीवन तथा इन्द्रियाँ इस प्रकार संलग्न रहती हैं, वह रजोगुणी होता है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।। ३५।।

यया—जिससे; **स्वप्नम्**—स्वप्न; **भयम्**—भय; **शोकम्**—शोक; **विषादम्**—विषाद, खिन्नता; **मदम्**—मोह को; **एव**—निश्चय ही; **च**—भी; **न**—कभी नहीं; **विमुञ्चति**—त्यागती है; **दुर्मेधा**—दुर्बुद्धि; **धृतिः**—धृति; **सा**—वह; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **तामसी**—तमोगुणी।

हे पार्थ! जो धृति स्वप्न, भय, शोक, विषाद तथा मोह के परे नहीं जाती, ऐसी दुर्बुद्धिपूर्ण धृति तामसी है।

तात्पर्य : इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि सतोगुणी मनुष्य स्वप्न नहीं देखता। यहाँ पर स्वप्न का अर्थ अति निद्रा है। स्वप्न सदा आता है, चाहे वह सात्त्विक हो, राजस हो या तामसी, स्वप्न तो प्राकृतिक घटना है। लेकिन जो अपने को अधिक सोने से नहीं बचा पाते, जो भौतिक वस्तुओं को भोगने के गर्व से नहीं बचा पाते, जो सदैव संसार पर प्रभुत्व जताने का स्वप्न देखते रहते हैं और जिनके प्राण, मन तथा इन्द्रियाँ इस प्रकार लिप्त रहतीं हैं, वे तामसी धृति वाले कहे जाते हैं।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।। ३६।।

सुखम्—सुख; **तु**—लेकिन; **इदानीम्**—अब; **त्रि-विधम्**—तीन प्रकार का; **शृणु**—सुनो; **मे**—मुझसे; **भरत-ऋषभ**—हे भरतश्रेष्ठ; **अभ्यासात्**—अभ्यास से; **रमते**—भोगता है; **यत्र**—जहाँ; **दुःख**—दुख का; **अन्तम्**—अन्त; **च**—भी; **निगच्छति**—प्राप्त करता है।

हे भरतश्रेष्ठ! अब मुझसे तीन प्रकार के सुखों के विषय में सुनो, जिनके द्वारा बद्धजीव भोग करता है और जिसके द्वारा कभी-कभी दुखों का अन्त हो जाता है।

तात्पर्य : बद्धजीव भौतिक सुख भोगने की बारम्बार चेष्टा करता है। इस प्रकार वह चर्वित चर्वण करता है। लेकिन कभी कभी ऐसे भोग के अन्तर्गत वह किसी महापुरुष की संगति से भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में, बद्धजीव सदा ही किसी न किसी इन्द्रियतृप्ति में लगा रहता है, लेकिन जब सुसंगति से यह समझ लेता है कि यह तो एक ही वस्तु की पुनरावृत्ति है और उसमें वास्तविक कृष्णभावनामृत का उदय होता है, तो कभी-कभी वह ऐसे तथाकथित आवृत्तिमूलक सुख से मुक्त हो जाता है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥

यत्—जो; **तत्**—वह; **अग्रे**—आरम्भ में; **विषम्-इव**—विष के समान; **परिणामे**—अन्त में; **अमृत**—अमृत; **उपमम्**—सदृश; **तत्**—वह; **सुखम्**—सुख; **सात्त्विकम्**—सतोगुणी; **प्रोक्तम्**—कहलाता है; **आत्म**—अपनी; **बुद्धि**—बुद्धि की; **प्रसाद-जम्**—तुष्टि से उत्पन्न।

जो प्रारम्भ में विष जैसा लगता है, लेकिन अन्त में अमृत के समान है और जो मनुष्य में आत्म-साक्षात्कार जगाता है, वह सात्त्विक सुख कहलाता है।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार के साधन में मन तथा इन्द्रियों को वश में करने तथा मन को आत्मकेन्द्रित करने के लिए नाना प्रकार के विधि-विधानों का पालन करना पड़ता है। ये सारी विधियाँ बहुत कठिन और विष के समान अत्यन्त कड़वी लगने वाली हैं, लेकिन यदि कोई इन नियमों के पालन में सफल हो जाता है और दिव्य पद को प्राप्त हो जाता है, तो वह वास्तविक अमृत का पान करने लगता है और जीवन का सुख प्राप्त करता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

विषय—इन्द्रिय विषयों; **इन्द्रिय**—तथा इन्द्रियों के; **संयोगात्**—संयोग से; **यत्**—जो; **तत्**—वह; **अग्रे**—प्रारम्भ में; **अमृत-उपमम्**—अमृत के समान; **परिणामे**—अन्त में; **विषम् इव**—विष के समान; **तत्**—वह; **सुखम्**—सुख; **राजसम्**—राजसी; **स्मृतम्**—माना जाता है।

जो सुख इन्द्रियों द्वारा उनके विषयों के संसर्ग से प्राप्त होता है और जो प्रारम्भ में अमृततुल्य तथा अन्त में विषतुल्य लगता है, वह रजोगुणी कहलाता है।

तात्पर्य : जब कोई युवक किसी युवती से मिलता है, तो इन्द्रियाँ युवक को प्रेरित करती हैं कि वह उस युवती को देखे, उसका स्पर्श करे और उससे संभोग करे। प्रारम्भ में इन्द्रियों को यह अत्यन्त सुखकर लग सकता है, लेकिन अन्त में या कुछ समय बाद वही विष तुल्य बन जाता है। तब वे विलग हो जाते हैं या उनमें तलाक (विवाह-विच्छेद) हो जाता है। फिर शोक, विषाद इत्यादि उत्पन्न होता है। ऐसा सुख सदैव राजसी होता है। जो सुख इन्द्रियों और विषयों के संयोग से प्राप्त होता है, वह सदैव दुख का कारण बनता है, अतएव इससे सभी तरह से बचना चाहिए।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

यत्—जो; **अग्रे**—प्रारम्भ में; **च**—भी; **अनुबन्धे**—अन्त में; **च**—भी; **सुखम्**—सुख; **मोहनम्**—मोहमय; **आत्मनः**—अपना; **निद्रा**—नींद; **आलस्य**—आलस्य; **प्रमाद**—तथा मोह से; **उत्थम्**—उत्पन्न; **तत्**—वह; **तामसम्**—तामसी; **उदाहृतम्**—कहलाता है।

तथा जो सुख आत्म-साक्षात्कार के प्रति अन्धा है, जो प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मोहकारक है और जो निद्रा, आलस्य तथा मोह से उत्पन्न होता है, वह तामसी कहलाता है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति आलस्य तथा निद्रा में ही सुखी रहता है, वह निश्चय ही तमोगुणी है। जिस व्यक्ति को इसका कोई अनुमान नहीं है कि किस प्रकार कर्म किया जाय और किस प्रकार नहीं, वह भी तमोगुणी है। तमोगुणी व्यक्ति के लिए सारी वस्तुएँ भ्रम (मोह) हैं। उसे न तो प्रारम्भ में सुख मिलता है, न अन्त में। रजोगुणी व्यक्ति के लिए प्रारम्भ में कुछ क्षणिक सुख और अन्त में दुख हो सकता है, लेकिन जो तमोगुणी है, उसे प्रारम्भ में तथा अन्त में दुख ही दुख मिलता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

न—नहीं; **तत्**—वह; **अस्ति**—है; **पृथिव्याम्**—पृथ्वी पर; **वा**—अथवा; **दिवि**—उच्चतर लोकों में; **देवेषु**—देवताओं में; **वा**—अथवा; **पुनः**—फिर; **सत्त्वम्**—अस्तित्व; **प्रकृति-जैः**—प्रकृति से उत्पन्न; **मुक्तम्**—मुक्त; **यत्**—जो; **एभिः**—इनके प्रभाव से; **स्यात्**—हो; **त्रिभिः**—तीन; **गुणैः**—गुणों से।

इस लोक में, स्वर्ग लोकों में या देवताओं के मध्य में कोई भी ऐसा व्यक्ति विद्यमान नहीं है, जो प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त हो।

तात्पर्य : भगवान् इस श्लोक में समग्र ब्रह्माण्ड में प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव का संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

ब्राह्मण—ब्राह्मण; **क्षत्रिय**—क्षत्रिय; **विशाम्**—तथा वैश्यों का; **शूद्राणाम्**—शूद्रों का; **च**—तथा; **परन्तप**—हे शत्रुओं के विजेता; **कर्माणि**—कार्यकलाप; **प्रविभक्तानि**—विभाजित हैं; **स्वभाव**—अपने स्वभाव से; **प्रभवैः**—उत्पन्न; **गुणैः**—गुणों के द्वारा।

हे परन्तप! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों में प्रकृति के गुणों के अनुसार उनके स्वभाव द्वारा उत्पन्न गुणों के द्वारा भेद किया जाता है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

शमः—शान्तिप्रियता; **दमः**—आत्मसंयम; **तपः**—तपस्या; **शौचम्**—पवित्रता; **क्षान्तिः**—सहिष्णुता; **आर्जवम्**—सत्यनिष्ठा; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **विज्ञानम्**—विज्ञान; **आस्तिक्यम्**—धार्मिकता; **ब्रह्म**—ब्राह्मण का; **कर्म**—कर्तव्य; **स्वभावजम्**—स्वभाव से उत्पन्न, स्वाभाविक।

शान्तिप्रियता, आत्मसंयम, तपस्या, पवित्रता, सहिष्णुता, सत्यनिष्ठा, ज्ञान, विज्ञान तथा धार्मिकता—ये सारे स्वाभाविक गुण हैं, जिनके द्वारा ब्राह्मण कर्म करते हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

शौर्यम्—वीरता; **तेजः**—शक्ति; **धृतिः**—संकल्प, धैर्य; **दाक्ष्यम्**—दक्षता; **युद्धे**—युद्ध में; **च**—तथा; **अपि**—भी; **अपलायनम्**—विमुख न होना; **दानम्**—उदारता; **ईश्वर**—नेतृत्व का; **भावः**—स्वभाव; **च**—तथा; **क्षात्रम्**—क्षत्रिय का; **कर्म**—कर्तव्य; **स्वभाव-जम्**—स्वभाव से उत्पन्न, स्वाभाविक।

वीरता, शक्ति, संकल्प, दक्षता, युद्ध में धैर्य, उदारता तथा नेतृत्व—ये क्षत्रियों के स्वाभाविक गुण हैं।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

कृषि—हल जोतना; **गो**—गायों की; **रक्ष्य**—रक्षा; **वाणिज्यम्**—व्यापार; **वैश्य**—वैश्य का; **कर्म**—कर्तव्य; **स्वभाव-जम्**—स्वाभाविक; **परिचर्या**—सेवा; **आत्मकम्**—से युक्त; **कर्म**—कर्तव्य; **शूद्रस्य**—शूद्र के; **अपि**—भी; **स्वभाव-जम्**—स्वाभाविक।

कृषि करना, गो-रक्षा तथा व्यापार वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं और शूद्रों का कर्म श्रम तथा अन्यों की सेवा करना है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

स्वे स्वे—अपने अपने; **कर्मणि**—कर्म में; **अभिरतः**—संलग्न; **संसिद्धिम्**—सिद्धि को; **लभते**—प्राप्त करता है; **नरः**—मनुष्य; **स्व-कर्म**—अपने कर्म में; **निरतः**—लगा हुआ; **सिद्धिम्**—सिद्धि को; **यथा**—जिस प्रकार; **विन्दति**—प्राप्त करता है; **तत्**—वह; **शृणु**—सुनो।

अपने अपने कर्म के गुणों का पालन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति सिद्ध हो सकता है। अब तुम मुझसे सुनो कि यह किस प्रकार किया जा सकता है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

यतः–जिससे; **प्रवृत्तिः**–उद्भव; **भूतानाम्**–समस्त जीवों का; **येन**–जिससे; **सर्वम्**–समस्त; **इदम्**–यह; **ततम्**–व्याप्त है; **स्व-कर्मणा**–अपने कर्म से; **तम्**–उसको; **अभ्यर्च्य**–पूजा करके; **सिद्धिम्**–सिद्धि को; **विन्दति**–प्राप्त करता है; **मानवः**–मनुष्य।

जो सभी प्राणियों का उद्गम है और सर्वव्यापी है, उस भगवान् की उपासना करके मनुष्य अपना कर्म करते हुए पूर्णता प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : जैसा कि पन्द्रहवें अध्याय में बताया जा चुका है, सारे जीव परमेश्वर के भिन्नांश हैं। इस प्रकार परमेश्वर ही सभी जीवों के आदि हैं। *वेदान्त सूत्र* में इसकी पुष्टि हुई है—*जन्माद्यस्य यतः*। अतएव परमेश्वर प्रत्येक जीव के जीवन के उद्गम हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* के सातवें अध्याय में कहा गया है, परमेश्वर अपनी परा तथा अपरा, इन दो शक्तियों के द्वारा सर्वव्यापी हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि उनकी शक्तियों सहित भगवान् की पूजा करे। सामान्यतया वैष्णवजन परमेश्वर की पूजा उनकी अन्तरंगा शक्ति समेत करते हैं। उनकी बहिरंगा शक्ति उनकी अन्तरंगा शक्ति का विकृत प्रतिबिम्ब है। बहिरंगा शक्ति पृष्ठभूमि है, लेकिन परमेश्वर परमात्मा रूप में पूर्णांश का विस्तार करके सर्वत्र स्थित हैं। वे सर्वत्र समस्त देवताओं, मनुष्यों और पशुओं के परमात्मा हैं। अतएव मनुष्य को यह जानना चाहिए कि परमेश्वर का भिन्नांश होने के कारण उसका कर्तव्य है कि वह भगवान् की सेवा करे। प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनामृत में भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। इस श्लोक में इसी की संस्तुति की गई है।

प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश द्वारा वह विशेष कर्म में प्रवृत्त किया गया है। अतएव जो जिस कर्म में लगा है, उसीके फल के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण को पूजना चाहिए। यदि वह इस प्रकार से कृष्णभावनामय हो कर सोचता है, तो भगवत्कृपा से वह पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यही जीवन की सिद्धि है। भगवान् ने *भगवद्गीता* में (१२.७) कहा है—*तेषामहं समुद्धर्ता*। परमेश्वर स्वयं ऐसे भक्त का उद्धार करते हैं। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। कोई चाहे जिस वृत्तिपरक कार्य में लगा हो, यदि वह परमेश्वर की सेवा करता है, तो उसे सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त होती है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

श्रेयान्–श्रेष्ठ; **स्व-धर्मः**–अपना वृत्तिपरक कार्य; **विगुणः**–भली भाँति सम्पन्न न होकर; **पर-धर्मात्**–दूसरे के वृत्तिपरक कार्य से; **सु-अनुष्ठितात्**–भलीभाँति किया गया; **स्वभाव-नियतम्**–स्वभाव के अनुसार संस्तुत; **कर्म**–कर्म; **कुर्वन्**–करने से; **न**–कभी नहीं; **आप्नोति**–प्राप्त करता है; **किल्बिषम्**–पापों को।

अपने वृत्तिपरक कार्य को करना, चाहे वह कितना ही त्रुटिपूर्ण ढंग से क्यों न किया जाय, अन्य किसी के कार्य को स्वीकार करने और अच्छी प्रकार करने की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। अपने स्वभाव के अनुसार निर्दिष्ट कर्म कभी भी पाप से प्रभावित नहीं होते।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में मनुष्य के वृत्तिपरक कार्य (स्वधर्म) का निर्देश है। जैसा कि पूर्ववर्ती श्लोकों में वर्णन हुआ है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्तव्य उनके विशेष प्राकृतिक गुणों (स्वभाव) के द्वारा निर्दिष्ट होते हैं। किसी को दूसरे के कार्य का अनुकरण नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति स्वभाव से शूद्र के द्वारा किये जाने वाले कर्म के प्रति आकृष्ट हो, उसे अपने आपको झूठे ही ब्राह्मण नहीं कहना चाहिए, भले ही वह ब्राह्मण कुल में क्यों न उत्पन्न हुआ हो। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करे; कोई भी कर्म निकृष्ट (गर्हित) नहीं है, यदि वह परमेश्वर की सेवा के लिए किया जाय। ब्राह्मण का वृत्तिपरक कार्य निश्चित रूप से सात्त्विक है, लेकिन यदि कोई मनुष्य स्वभाव से सात्त्विक नहीं है, तो उसे ब्राह्मण के वृत्तिपरक कार्य (धर्म) का अनुकरण नहीं करना चाहिए। क्षत्रिय या प्रशासक के लिए अनेक गर्हित बातें हैं— क्षत्रिय को शत्रुओं का वध करने के लिए हिंसक होना पड़ता है और कभी-कभी कूटनीति में झूठ भी बोलना पड़ता है। ऐसी हिंसा तथा कपट राजनीतिक मामलों में चलता है, लेकिन क्षत्रिय से यह आशा नहीं की जाती कि वह अपने वृत्तिपरक कर्तव्य त्याग कर ब्राह्मण के कार्य करने लगे।

मनुष्य को चाहिए कि परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए कार्य करे। उदाहरणार्थ, अर्जुन *क्षत्रिय* था। वह दूसरे पक्ष से युद्ध करने से बच रहा था। लेकिन यदि ऐसा युद्ध भगवान् कृष्ण के लिए करना पड़े, तो पतन से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। कभी-कभी व्यापारिक क्षेत्र में भी व्यापारी को लाभ कमाने के लिए झूठ बोलना पड़ता है। यदि वह ऐसा नहीं करे तो उसे लाभ नहीं हो सकता। कभी-कभी व्यापारी कहता है, "अरे मेरे ग्राहक भाई! मैं आपसे कोई लाभ नहीं ले रहा।" लेकिन हमें यह समझना चाहिए कि व्यापारी बिना लाभ के जीवित नहीं रह सकता। अतएव यदि व्यापारी यह कहता है कि वह कोई लाभ नहीं ले रहा है तो इसे एक सरल झूठ समझना चाहिए। लेकिन व्यापारी को यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि वह ऐसे कार्य में लगा है, जिसमें झूठ बोलना आवश्यक है, अतएव उसे इस व्यवसाय (वैश्य कर्म) को त्यागकर ब्राह्मण की वृत्ति ग्रहण करनी चाहिए। इसकी शास्त्रों द्वारा संस्तुति नहीं की गई। चाहे कोई *क्षत्रिय* हो, वैश्य हो या शूद्र, यदि वह इस कार्य से भगवान् की सेवा करता है, तो कोई आपत्ति नहीं है। कभी-कभी विभिन्न यज्ञों का सम्पादन करते समय ब्राह्मणों को भी पशुओं की हत्या करनी होती है, क्योंकि इन अनुष्ठानों में पशु की बलि देनी होती है। इसी प्रकार यदि *क्षत्रिय* अपने कार्य में लगा रहकर शत्रु का वध करता है, तो उस पर पाप नहीं चढ़ता। तृतीय अध्याय में इन बातों की स्पष्ट एवं विस्तृत व्याख्या हो चुकी है। हर मनुष्य को यज्ञ के लिए अथवा भगवान् विष्णु के लिए कार्य करना चाहिए। निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए किया गया कोई भी कार्य बन्धन का कारण है। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को चाहिए कि अपने द्वारा अर्जित विशेष गुण के अनुसार कार्य में प्रवृत्त हो और परमेश्वर की सेवा करने के लिए ही कार्य करने का निश्चय करे।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८॥

सहजम्—एकसाथ उत्पन्न; **कर्म**—कर्म; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **स-दोषम्**—दोषयुक्त; **अपि**—यद्यपि; **न**—कभी नहीं; **त्यजेत्**—त्यागना चाहिए; **सर्व-आरम्भाः**—सारे उद्योग; **हि**—निश्चय ही; **दोषेण**—दोष से; **धूमेन**—धुएँ से; **अग्निः**—अग्नि; **इव**—सदृश; **आवृताः**—ढके हुए।

प्रत्येक उद्योग (प्रयास) किसी न किसी दोष से आवृत होता है, जिस प्रकार अग्नि धुएँ से आवृत रहती है। अतएव हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य को चाहिए कि स्वभाव से उत्पन्न कर्म को, भले ही वह दोषपूर्ण क्यों न हो, कभी त्यागे नहीं।

तात्पर्य : बद्ध जीवन में सारा कर्म भौतिक गुणों से दूषित रहता है। यहाँ तक कि ब्राह्मण तक को ऐसे यज्ञ करने पड़ते हैं, जिनमें पशुहत्या अनिवार्य है। इसी प्रकार क्षत्रिय चाहे कितना ही पवित्र क्यों न हो, उसे शत्रुओं से युद्ध करना पड़ता है। वह इससे बच नहीं सकता। इसी प्रकार एक व्यापारी को चाहे वह कितना ही पवित्र क्यों न हो, अपने व्यापार में बने रहने के लिए कभी-कभी लाभ को छिपाना पड़ता है, या कभी-कभी कालाबाजार चलाना पड़ता है। ये बातें आवश्यक हैं, इनसे बचा नहीं जा सकता। इसी प्रकार यदि शूद्र होकर बुरे स्वामी की सेवा करनी पड़े, तो उसे स्वामी की आज्ञा का पालन करना होता है, भले ही ऐसा नहीं होना चाहिए। इन सब दोषों के होते हुए भी, मनुष्य को अपने निर्दिष्ट कर्तव्य करते रहना चाहिए, क्योंकि वे स्वभावगत हैं।

यहाँ पर एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण दिया जाता है। यद्यपि अग्नि शुद्ध होती है, तो भी उसमें धुआँ रहता है। लेकिन इतने पर भी अग्नि अशुद्ध नहीं होती। अग्नि में धुआँ होने पर भी अग्नि समस्त तत्त्वों में शुद्धतम मानी जाती है। यदि कोई *क्षत्रिय* की वृत्ति त्याग कर ब्राह्मण की वृत्ति ग्रहण करना पसन्द करता है, तो उसको इसकी कोई निश्चितता नहीं है कि ब्राह्मण वृत्ति में कोई अरुचिकर कार्य नहीं होंगे। अतएव कोई यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि संसार में प्रकृति के कल्मष से कोई भी पूर्णतः मुक्त नहीं है। इस प्रसंग में अग्नि तथा धुएँ का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। यदि जाड़े के दिनों में कोई अग्नि से कोयला निकालता है, तो कभी-कभी धुएँ से आँखें तथा शरीर के अन्य भाग दुखते हैं, लेकिन इन प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी अग्नि को तापा जाता है। इसी प्रकार किसी को अपनी सहज वृत्ति इसलिए नहीं त्याग देनी चाहिए कि कुछ बाधक तत्त्व आ गये हैं। अपितु मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभावनामृत में रहकर अपने वृत्तिपरक कार्य से परमेश्वर की सेवा करने का संकल्प ले। यही सिद्धि अवस्था है। जब कोई भी वृत्तिपरक कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है, तो उस कार्य के सारे दोष शुद्ध हो जाते हैं। जब भक्ति से सम्बन्धित कर्मफल शुद्ध हो जाते हैं, तो मनुष्य अपने अन्तर का दर्शन कर सकता है और यही आत्म-साक्षात्कार है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥ ४९॥

असक्त-बुद्धिः—आसक्ति रहित बुद्धि वाला; **सर्वत्र**—सभी जगह; **जित-आत्मा**—मन के ऊपर संयम रखने वाला; **विगत-स्पृहः**—भौतिक इच्छाओं से रहित; **नैष्कर्म्य-सिद्धिम्**—निष्कर्म की सिद्धि; **परमाम्**—परम; **संन्यासेन**—संन्यास के द्वारा; **अधिगच्छति**—प्राप्त करता है।

जो आत्मसंयमी तथा अनासक्त है एवं जो समस्त भौतिक भोगों की परवाह नहीं करता, वह संन्यास के अभ्यास द्वारा कर्मफल से मुक्ति की सर्वोच्च सिद्ध-अवस्था प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : सच्चे संन्यास का अर्थ है कि मनुष्य सदा अपने को परमेश्वर का अंश मानकर यह सोचे कि उसे अपने कार्य के फल को भोगने का कोई अधिकार नहीं है। चूँकि वह परमेश्वर का अंश है, अतएव उसके कार्य का फल परमेश्वर द्वारा भोगा जाना चाहिए, यही वास्तव में कृष्णभावनामृत है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में स्थित होकर कर्म करता है, वही वास्तव में संन्यासी है। ऐसी मनोवृत्ति होने से मनुष्य सन्तुष्ट रहता है क्योंकि वह वास्तव में भगवान् के लिए कार्य कर रहा होता है। इस प्रकार वह किसी भी भौतिक वस्तु के लिए आसक्त नहीं होता, वह भगवान् की सेवा से प्राप्त दिव्य सुख से परे किसी भी वस्तु में आनन्द न लेने का आदी हो जाता है। संन्यासी को पूर्व कार्यकलापों के बन्धन से मुक्त माना जाता है, लेकिन जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में होता है वह बिना संन्यास ग्रहण किये ही यह सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यह मनोदशा योगारूढ़ या योग की सिद्धावस्था कहलाती है। जैसा कि तृतीय अध्याय में पुष्टि हुई है—*यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्*—जो व्यक्ति अपने में संतुष्ट रहता है, उसे अपने कर्म से किसी प्रकार के बन्धन का भय नहीं रह जाता।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

सिद्धिम्—सिद्धि को; **प्राप्तः**—प्राप्त किया हुआ; **यथा**—जिस तरह; **ब्रह्म**—परमेश्वर; **तथा**—उसी प्रकार; **आप्नोति**—प्राप्त करता है; **निबोध**—समझने का यत्न करो; **मे**—मुझसे; **समासेन**—संक्षेप में; **एव**—निश्चय ही; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **निष्ठा**—अवस्था; **ज्ञानस्य**—ज्ञान की; **या**—जो; **परा**—दिव्य।

हे कुन्तीपुत्र! जिस तरह इस सिद्धि को प्राप्त हुआ व्यक्ति परम सिद्धावस्था अर्थात् ब्रह्म को, जो सर्वोच्च ज्ञान की अवस्था है, प्राप्त करता है, उसका मैं संक्षेप में तुमसे वर्णन करूँगा, उसे तुम जानो।

तात्पर्य : भगवान् अर्जुन को बताते हैं कि किस तरह कोई व्यक्ति केवल अपने वृत्तिपरक कार्य में लग कर परम सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है, यदि यह कार्य भगवान् के लिए किया गया हो। यदि मनुष्य अपने कर्म के फल को परमेश्वर की तुष्टि के लिए ही त्याग देता है, तो उसे ब्रह्म की चरम अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह आत्म-साक्षात्कार की विधि है। ज्ञान की वास्तविक सिद्धि शुद्ध कृष्णभावनामृत प्राप्त करने में है, इसका वर्णन अगले श्लोकों में किया गया है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

बुद्ध्या—बुद्धि से; **विशुद्धया**—नितान्त शुद्ध; **युक्तः**—रत; **धृत्या**—धैर्य से; **आत्मानम्**—स्व को; **नियम्य**—वश में करके; **च**—भी; **शब्द-आदीन्**—शब्द आदि; **विषयान्**—इन्द्रियविषयों को; **त्यक्त्वा**—त्यागकर; **राग**—आसक्ति; **द्वेषौ**—तथा घृणा को; **व्युदस्य**—एक तरफ रख कर; **च**—भी; **विविक्त-सेवी**—एकान्त स्थान में रहते हुए; **लघु-आशी**—अल्प भोजन करने वाला; **यत**—वश में करके; **वाक्**—वाणी; **काय**—शरीर; **मानसः**—तथा मन को; **ध्यान-योगपरः**—समाधि में लीन; **नित्यम्**—चौबीसों घण्टे; **वैराग्यम्**—वैराग्य का; **समुपाश्रितः**—आश्रय लेकर; **अहङ्कारम्**—मिथ्या अहंकार को; **बलम्**—झूठे बल को; **दर्पम्**—झूठे घमंड को; **कामम्**—काम को; **क्रोधम्**—क्रोध को; **परिग्रहम्**—तथा भौतिक वस्तुओं के संग्रह को; **विमुच्य**—त्याग कर; **निर्ममः**—स्वामित्व की भावना से रहित; **शान्तः**—शान्त; **ब्रह्म-भूयाय**—आत्म-साक्षात्कार के लिए; **कल्पते**—योग्य हो जाता है।

अपनी बुद्धि से शुद्ध होकर तथा धैर्यपूर्वक मन को वश में करते हुए, इन्द्रियतृप्ति के विषयों का त्याग कर, राग तथा द्वेष से मुक्त होकर जो व्यक्ति एकान्त स्थान में वास करता है, जो थोड़ा खाता है, जो अपने शरीर मन तथा वाणी को वश में रखता है, जो सदैव समाधि में रहता है तथा पूर्णतया विरक्त, मिथ्या अहंकार, मिथ्या शक्ति, मिथ्या गर्व, काम, क्रोध तथा भौतिक वस्तुओं के संग्रह से मुक्त है, जो मिथ्या स्वामित्व की भावना से रहित तथा शान्त है वह निश्चय ही आत्म-साक्षात्कार के पद को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जो मनुष्य बुद्धि द्वारा शुद्ध हो जाता है, वह अपने आपको सत्त्व गुण में अधिष्ठित कर लेता है। इस प्रकार वह मन को वश में करके सदैव समाधि में रहता है। वह इन्द्रियतृप्ति के विषयों के प्रति आसक्त नहीं रहता और अपने कार्यों में राग तथा द्वेष से मुक्त होता है। ऐसा विरक्त व्यक्ति स्वभावतः एकान्त स्थान में रहना पसन्द करता है, वह आवश्यकता से अधिक खाता नहीं और अपने शरीर तथा मन की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखता है। वह मिथ्या अहंकार से रहित होता है क्योंकि वह अपने को शरीर नहीं समझता। न ही वह अनेक भौतिक वस्तुएँ स्वीकार करके शरीर को स्थूल तथा बलवान बनाने की इच्छा करता है। चूँकि वह देहात्मबुद्धि से रहित होता है अतएव वह मिथ्या गर्व नहीं करता। भगवत्कृपा से उसे जितना कुछ प्राप्त हो जाता है, उसी से वह संतुष्ट रहता है और इन्द्रियतृप्ति न होने पर कभी क्रुद्ध नहीं होता। न ही वह इन्द्रियविषयों को प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है। इस प्रकार जब वह मिथ्या अहंकार से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, तो वह समस्त भौतिक वस्तुओं से विरक्त बन जाता है और यही ब्रह्म की आत्म-साक्षात्कार अवस्था है। यह ब्रह्मभूत अवस्था कहलाती

है। जब मनुष्य देहात्मबुद्धि से मुक्त हो जाता है, तो वह शान्त हो जाता है और उसे उत्तेजित नहीं किया जा सकता इसका वर्णन *भगवद्गीता* में (२.७०) इस प्रकार हुआ है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

"जो मनुष्य इच्छाओं के अनवरत प्रवाह से विचलित नहीं होता, जिस प्रकार नदियों के जल के निरन्तर प्रवेश करते रहने और सदा भरते रहने पर भी समुद्र शांत रहता है, उसी तरह केवल वही शान्ति प्राप्त कर सकता है, वह नहीं, जो ऐसी इच्छाओं की तुष्टि के लिए निरन्तर उद्योग करता रहता है।"

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

ब्रह्म-भूतः—ब्रह्म से तदाकार होकर; **प्रसन्न-आत्मा**—पूर्णतया प्रमुदित; **न**—कभी नहीं; **शोचति**—खेद करता है; **न**—कभी नहीं; **काङ्क्षति**—इच्छा करता है; **समः**—समान भाव से; **सर्वेषु**—समस्त; **भूतेषु**—जीवों पर; **मत्-भक्तिम्**—मेरी भक्ति को; **लभते**—प्राप्त करता है; **पराम्**—दिव्य।

इस प्रकार जो दिव्य पद पर स्थित है, वह तुरन्त परब्रह्म का अनुभव करता है और पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। वह न तो कभी शोक करता है, न किसी वस्तु की कामना करता है। वह प्रत्येक जीव पर समभाव रखता है। उस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति को प्राप्त करता है।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी के लिए ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त करना अर्थात् ब्रह्म से तदाकार होना परम लक्ष्य होता है। लेकिन साकारवादी शुद्धभक्त को इससे भी आगे चलकर शुद्ध भक्ति में प्रवृत्त होना होता है। इसका अर्थ हुआ कि जो भगवद्भक्ति में रत है, वह पहले ही मुक्ति की अवस्था, जिसे ब्रह्मभूत या ब्रह्म से तादात्म्य कहते हैं, प्राप्त कर चुका होता है। परमेश्वर या परब्रह्म से तदाकार हुए बिना कोई उनकी सेवा नहीं कर सकता। परम ज्ञान होने पर सेव्य तथा सेवक में कोई अन्तर नहीं कर सकता, फिर भी उच्चतर आध्यात्मिक दृष्टि से अन्तर तो रहता ही है।

देहात्मबुद्धि के अन्तर्गत, जब कोई इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करता है, तो दुख का भागी होता है, लेकिन परम जगत् में शुद्ध भक्ति में रत रहने पर कोई दुख नहीं रह जाता। कृष्णभावनाभावित भक्त को न तो किसी प्रकार का शोक होता है, न आकांक्षा होती है। चूँकि ईश्वर पूर्ण है, अतएव ईश्वर में सेवारत जीव भी कृष्णभावना में रहकर अपने में पूर्ण रहता है। वह ऐसी नदी के तुल्य है, जिसके जल की सारी गंदगी साफ कर दी गई है। चूँकि शुद्ध भक्त में कृष्ण के अतिरिक्त कोई विचार ही नहीं उठते, अतएव वह प्रसन्न रहता है। वह न तो किसी भौतिक क्षति पर शोक करता है, न किसी लाभ की आकांक्षा करता है, क्योंकि वह भगवद्भक्ति से पूर्ण होता है। वह किसी भौतिक भोग की आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि प्रत्येक जीव भगवान् का अंश है,

अतएव वह उनका नित्य दास है। वह भौतिक जगत में न तो किसी को अपने से उच्च देखता है और न किसी को निम्न! ये उच्च तथा निम्न पद क्षणभंगुर हैं और भक्त को क्षणभंगुर प्राकट्य या तिरोधान से कुछ लेना-देना नहीं रहता। उसके लिए पत्थर तथा सोना बराबर होते हैं। यह ब्रह्मभूत अवस्था है, जिसे शुद्ध भक्त सरलता से प्राप्त कर लेता है। उस अवस्था में परब्रह्म से तादात्म्य और अपने व्यक्तित्व का विलय नारकीय बन जाता है, स्वर्ग प्राप्त करने का विचार मृगतृष्णा लगता है और इन्द्रियाँ विषदंतविहीन सर्प की भाँति प्रतीत होती हैं। जिस प्रकार विषदंतविहीन सर्प से कोई भय नहीं रह जाता उसी प्रकार स्वतः संयमित इन्द्रियों से कोई भय नहीं रह जाता। यह संसार उस व्यक्ति के लिए दुखमय है, जो भौतिकता से ग्रस्त है। लेकिन भक्त के लिए समग्र जगत् वैकुण्ठ-तुल्य है। इस ब्रह्माण्ड का महान से महानतम पुरुष भी भक्त के लिए एक क्षुद्र चींटी से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता। ऐसी अवस्था भगवान् चैतन्य की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है, जिन्होंने इस युग में शुद्ध भक्ति का प्रचार किया।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ५५॥

भक्त्या–शुद्ध भक्ति से; **माम्**–मुझको; **अभिजानाति**–जान सकता है; **यावान्**–जितना; **यः च अस्मि**–जैसा मैं हूँ; **तत्त्वतः**–सत्यतः; **ततः**–तत्पश्चात्; **माम्**–मुझको; **तत्त्वतः**–सत्यतः; **ज्ञात्वा**–जानकर; **विशते**–प्रवेश करता है; **तत्-अनन्तरम्**–तत्पश्चात्।

केवल भक्ति से मुझ भगवान् को यथारूप में जाना जा सकता है। जब मनुष्य ऐसी भक्ति से मेरे पूर्ण भावनामृत में होता है, तो वह वैकुण्ठ जगत् में प्रवेश कर सकता है।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके स्वांशों को न तो मनोधर्म द्वारा जाना जा सकता है, न ही अभक्तगण उन्हें समझ पाते हैं। यदि कोई व्यक्ति भगवान् को समझना चाहता है, तो उसे शुद्ध भक्त के पथदर्शन में शुद्ध भक्ति ग्रहण करनी होती है, अन्यथा भगवान् सम्बन्धी सत्य (तत्त्व) उससे सदा छिपा रहेगा। जैसा कि *भगवद्गीता* में (७.२५) कहा जा चुका है—*नाहं प्रकाशः सर्वस्य*—मैं सबों के समक्ष प्रकाशित नहीं होता। केवल पाण्डित्य या मनोधर्म द्वारा ईश्वर को नहीं समझा जा सकता। कृष्ण को केवल वही समझ पाता है, जो कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में तत्पर रहता है। इसमें विश्वविद्यालय की उपाधियाँ सहायक नहीं होती हैं।

जो व्यक्ति कृष्ण विज्ञान (तत्त्व) से पूर्णतया अवगत है, वही वैकुण्ठजगत् या कृष्ण के धाम में प्रवेश कर सकता है। ब्रह्मभूत होने का अर्थ यह नहीं है कि वह अपना स्वरूप खो बैठता है। भक्ति तो रहती ही है और जब तक भक्ति का अस्तित्व रहता है, तब तक ईश्वर, भक्त तथा भक्ति की विधि रहती है। ऐसे ज्ञान का नाश मुक्ति के बाद भी नहीं होता। मुक्ति का अर्थ देहात्मबुद्धि से मुक्ति प्राप्त करना है। आध्यात्मिक जीवन में वैसा ही अन्तर, वही व्यक्तित्व (स्वरूप) बना रहता है, लेकिन शुद्ध कृष्णभावनामृत में ही *विशते* शब्द का अर्थ है "मुझमें प्रवेश करता है।" भ्रमवश यह नहीं सोचना चाहिए

कि यह शब्द अद्वैतवाद का पोषक है और मनुष्य निर्गुण ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। ऐसा नहीं है। *विशते* का तात्पर्य है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व सहित भगवान् के धाम में, भगवान् की संगति करने तथा उनकी सेवा करने के लिए प्रवेश कर सकता है। उदाहरणार्थ, एक हरा पक्षी (शुक) हरे वृक्ष में इसलिए प्रवेश नहीं करता कि वह वृक्ष से तदाकार (लीन) हो जाय, अपितु वह वृक्ष के फलों का भोग करने के लिए प्रवेश करता है। निर्विशेषवादी सामान्यतया समुद्र में गिरने वाली तथा समुद्र से मिलने वाली नदी का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। यह निर्विशेषवादियों के लिए आनन्द का विषय हो सकता है, लेकिन साकारवादी अपने व्यक्तित्व को उसी प्रकार बनाये रखना चाहता है, जिस प्रकार समुद्र में एक जलचर प्राणी। यदि हम समुद्र की गहराई में प्रवेश करें तो हमें अनेकानेक जीव मिलते हैं। केवल समुद्र की ऊपरी जानकारी पर्याप्त नहीं है, समुद्र की गहराई में रहने वाले जलचर प्राणियों की भी जानकारी रखना आवश्यक है।

भक्त अपनी शुद्ध भक्ति के कारण परमेश्वर के दिव्य गुणों तथा ऐश्वर्य को यथार्थ रूप में जान सकता है। जैसा कि ग्यारहवें अध्याय में कहा जा चुका है, केवल भक्ति द्वारा इसे समझा जा सकता है। इसी की पुष्टि यहाँ भी हुई है। मनुष्य भक्ति द्वारा भगवान् को समझ सकता है और उनके धाम में प्रवेश कर सकता है।

भौतिक बुद्धि से मुक्ति की अवस्था—ब्रह्मभूत अवस्था—को प्राप्त कर लेने के बाद भगवान् के विषय में श्रवण करने से भक्ति का शुभारम्भ होता है। जब कोई परमेश्वर के विषय में श्रवण करता है, तो स्वतः ब्रह्मभूत अवस्था का उदय होता है और भौतिक कल्मष—यथा लोभ तथा काम—का विलोप हो जाता है। ज्यों-ज्यों भक्त के हृदय से काम तथा इच्छाएँ विलुप्त होती जाती हैं, त्यों-त्यों वह भगवद्भक्ति के प्रति अधिक आसक्त होता जाता है और इस तरह वह भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। जीवन की उस स्थिति में वह भगवान् को समझ सकता है। *श्रीमद्भागवत* में भी इसका कथन हुआ है। मुक्ति के बाद भक्तियोग चलता रहता है। इसकी पुष्टि *वेदान्तसूत्र* से (४.१.१२) होती है—*आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्*। इसका अर्थ है कि मुक्ति के बाद भक्तियोग चलता रहता है। *श्रीमद्भागवत* में वास्तविक भक्तिमयी मुक्ति की जो परिभाषा दी गई है उसके अनुसार यह जीव का अपने स्वरूप या अपनी निजी स्वाभाविक स्थिति में पुनःप्रतिष्ठापित हो जाना है। स्वाभाविक स्थिति की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है—प्रत्येक जीव परमेश्वर का अंश है, अतएव उसकी स्वाभाविक स्थिति सेवा करने की है। मुक्ति के बाद यह सेवा कभी रुकती नहीं। वास्तविक मुक्ति तो देहात्मबुद्धि की भ्रान्त धारणा से मुक्त होना है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥५६॥

सर्व—समस्त; **कर्माणि**—कार्यकलाप को; **अपि**—यद्यपि; **सदा**—सदैव; **कुर्वाणः**—करते हुए; **मत्-व्यपाश्रयः**—मेरे संरक्षण में; **मत्-प्रसादात्**—मेरी कृपा से; **अवाप्नोति**—प्राप्त करता है; **शाश्वतम्**—नित्य; **पदम्**—धाम को; **अव्ययम्**—अविनाशी।

मेरा शुद्ध भक्त मेरे संरक्षण में, समस्त प्रकार के कार्यों में संलग्न रह कर भी मेरी

कृपा से नित्य तथा अविनाशी धाम को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : *मद्-व्यपाश्रयः* शब्द का अर्थ है परमेश्वर के संरक्षण में। भौतिक कल्मष से रहित होने के लिए शुद्ध भक्त परमेश्वर या उनके प्रतिनिधि स्वरूप गुरु के निर्देशन में कर्म करता है। उसके लिए समय की कोई सीमा नहीं है। वह सदा, चौबीसों घंटे, शत प्रतिशत परमेश्वर के निर्देशन में कार्यों में संलग्न रहता है। ऐसे भक्त पर जो कृष्णभावनामृत में रत रहता है, भगवान् अत्यधिक दयालु होते हैं। वह समस्त कठिनाइयों के बावजूद अन्ततोगत्वा दिव्यधाम या कृष्णलोक को प्राप्त करता है। वहाँ उसका प्रवेश सुनिश्चित रहता है, इसमें कोई संशय नहीं है। उस परम धाम में कोई परिवर्तन नहीं होता, वहाँ प्रत्येक वस्तु शाश्वत, अविनश्वर तथा ज्ञानमय होती है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥५७॥

चेतसा—बुद्धि से; **सर्व-कर्माणि**—समस्त प्रकार के कार्य; **मयि**—मुझ में; **संन्यस्य**—त्यागकर; **मत्-परः**—मेरे संरक्षण में; **बुद्धि-योगम्**—भक्ति के कार्यों की; **उपाश्रित्य**—शरण लेकर; **मत्-चित्तः**—मेरी चेतना में; **सततम्**—चौबीसों घंटे; **भव**—होओ।

सारे कार्यों के लिए मुझ पर निर्भर रहो और मेरे संरक्षण में सदा कर्म करो। ऐसी भक्ति में मेरे प्रति पूर्णतया सचेत रहो।

तात्पर्य : जब मनुष्य कृष्णभावनामृत में कर्म करता है, तो वह संसार के स्वामी के रूप में कर्म नहीं करता। उसे चाहिए कि वह सेवक की भाँति परमेश्वर के निर्देशानुसार कर्म करे। सेवक को स्वतन्त्रता नहीं रहती। वह केवल अपने स्वामी के आदेश पर कार्य करता है, उस पर लाभ-हानि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह भगवान् के आदेशानुसार अपने कर्तव्य का सच्चे दिल से पालन करता है। अब कोई यह तर्क दे सकता है कि अर्जुन कृष्ण के व्यक्तिगत निर्देशानुसार कार्य कर रहा था, लेकिन जब कृष्ण उपस्थित न हों तो कोई किस तरह कार्य करे? यदि कोई इस पुस्तक में दिये गये कृष्ण के निर्देश के अनुसार तथा कृष्ण के प्रतिनिधि के मार्गदर्शन में कार्य करता है, तो उसका फल वैसा ही होगा। इस श्लोक में *मत्परः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सूचित करता है कि मनुष्य जीवन में कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए कृष्णभावनाभावित होकर कार्य करने के अतिरिक्त अन्य कोई लक्ष्य नहीं होता। जब वह इस प्रकार कार्य कर रहा हो तो उसे केवल कृष्ण का ही चिन्तन इस प्रकार से करना चाहिए—"कृष्ण ने मुझे इस विशेष कार्य को पूरा करने के लिए नियुक्त किया है।" और इस तरह कार्य करते हुए उसे स्वाभाविक रूप से कृष्ण का चिन्तन हो आता है। यही पूर्ण कृष्णभावनामृत है। किन्तु यह ध्यान रहे कि मनमाना कर्म करके उसका फल परमेश्वर को अर्पित न किया जाय। इस प्रकार का कार्य कृष्णभावनामृत की भक्ति में नहीं आता। मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के आदेशानुसार कर्म करे। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। कृष्ण का यह आदेश गुरु-परम्परा द्वारा प्रामाणिक गुरु से प्राप्त होता है। अतएव गुरु के आदेश को जीवन का मूल कर्तव्य समझना चाहिए। यदि किसी को प्रामाणिक गुरु प्राप्त हो जाता है और वह

निर्देशानुसार कार्य करता है, तो कृष्णभावनामय जीवन की सिद्धि सुनिश्चित है।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ ५८॥

मत्–मेरी; **चित्तः**–चेतना में; **सर्व**–सारी; **दुर्गाणि**–बाधाओं को; **मत्-प्रसादात्**–मेरी कृपा से; **तरिष्यसि**–तुम पार कर सकोगे; **अथ**–लेकिन; **चेत्**–यदि; **त्वम्**–तुम; **अहङ्कारात्**–मिथ्या अहंकार से; **न श्रोष्यसि**–नहीं सुनते हो; **विनङ्क्ष्यसि**–नष्ट हो जाओगे।

यदि तुम मुझसे भावनाभावित होगे, तो मेरी कृपा से तुम बद्ध जीवन के सारे अवरोधों को लाँघ जाओगे। लेकिन यदि तुम मिथ्या अहंकारवश ऐसी चेतना में कर्म नहीं करोगे और मेरी बात नहीं सुनोगे, तो तुम विनष्ट हो जाओगे।

तात्पर्य : पूर्ण कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए कर्तव्य करने के विषय में आवश्यकता से अधिक उद्विग्न नहीं रहता। जो मूर्ख है, वह समस्त चिन्ताओं से मुक्त कैसे रहे, इस बात को नहीं समझ सकता। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में कर्म करता है, भगवान् कृष्ण उसके घनिष्ठ मित्र बन जाते हैं। वे सदैव अपने मित्र की सुविधा का ध्यान रखते हैं और जो मित्र चौबीसों घंटे उन्हें प्रसन्न करने के लिए निष्ठापूर्वक कार्य में लगा रहता है, वे उसको आत्मदान कर देते हैं। अतएव किसी को देहात्मबुद्धि के मिथ्या अहंकार में नहीं बह जाना चाहिए। उसे झूठे ही यह नहीं सोचना चाहिए कि वह प्रकृति के नियमों से स्वतन्त्र है, या कर्म करने के लिए मुक्त है। वह पहले से कठोर भौतिक नियमों के अधीन है। लेकिन जैसे ही वह कृष्णभावनाभावित होकर कर्म करता है, तो वह भौतिक दुश्चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। मनुष्य को यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि जो कृष्णभावनामृत में सक्रिय नहीं है, वह जन्म-मृत्यु रूपी सागर के की भंवर में पड़कर अपना विनाश कर रहा है। कोई भी बद्धजीव यह सही सही नहीं जानता कि क्या करना है और क्या नहीं करना है, लेकिन जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित होकर कर्म अन्तर से करता है, वह कर्म करने के लिए मुक्त है, क्योंकि प्रत्येक किया हुआ कर्म कृष्ण द्वारा प्रेरित तथा गुरु द्वारा पुष्ट होता है।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥

यत्–यदि; **अहङ्कारम्**–मिथ्या अहंकार की; **आश्रित्य**–शरण लेकर; **न योत्स्ये**–मैं नहीं लड़ूँगा; **इति**–इस प्रकार; **मन्यसे**–तुम सोचते हो; **मिथ्या एष**–तो यह सब झूठ है; **व्यवसायः**–संकल्प; **ते**–तुम्हारा; **प्रकृतिः**–भौतिक प्रकृति; **त्वाम्**–तुमको; **नियोक्ष्यति**–लगा लेगी।

यदि तुम मेरे निर्देशानुसार कर्म नहीं करते और युद्ध में प्रवृत्त नहीं होते हो, तो तुम कुमार्ग पर जाओगे। तुम्हें अपने स्वभाववश युद्ध में लगना होगा।

तात्पर्य : अर्जुन एक सैनिक था और क्षत्रिय स्वभाव लेकर जन्मा था। अतएव उसका स्वाभाविक कर्तव्य था कि वह युद्ध करे। लेकिन मिथ्या अहंकारवश वह डर रहा था

कि अपने गुरु, पितामह तथा मित्रों का वध करके वह पाप का भागी होगा। वास्तव में वह अपने को अपने कर्मों का स्वामी जान रहा था, मानो वही ऐसे कर्मों के अच्छे-बुरे फलों का निर्देशन कर रहा हो। वह भूल गया कि वहाँ पर साक्षात् भगवान् उपस्थित हैं और उसे युद्ध करने का आदेश दे रहे हैं। यही है बद्धजीव की विस्मृति। परमपुरुष निर्देश देते हैं कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है और मनुष्य को जीवन-सिद्धि प्राप्त करने के लिए केवल कृष्णभावनामृत में कर्म करना है। कोई भी अपने भाग्य का निर्णय ऐसे नहीं कर सकता जैसे भगवान् कर सकते हैं। अतएव सर्वोत्तम मार्ग यही है कि परमेश्वर से निर्देश प्राप्त करके कर्म किया जाय। भगवान् या भगवान् के प्रतिनिधि स्वरूप गुरु के आदेश की वह कभी भी उपेक्षा न करे। भगवान् के आदेश को बिना किसी हिचक के पूरा करने के लिए वह कर्म करे—इससे सभी परिस्थितियों में सुरक्षित रहा जा सकेगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥

स्वभाव-जेन—अपने स्वभाव से उत्पन्न; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **निबद्धः**—बद्ध; **स्वेन**—तुम अपने; **कर्मणा**—कार्यकलापों से; **कर्तुम्**—करने के लिए; **न**—नहीं; **इच्छसि**—इच्छा करते हो; **यत्**—जो; **मोहात्**—मोह से; **करिष्यसि**—करोगे; **अवशः**—अनिच्छा से; **अपि**—भी; **तत्**—वह।

इस समय तुम मोहवश मेरे निर्देशानुसार कर्म करने से मना कर रहे हो। लेकिन हे कुन्तीपुत्र! तुम अपने ही स्वभाव से उत्पन्न कर्म द्वारा बाध्य होकर वही सब करोगे।

तात्पर्य : यदि कोई परमेश्वर के निर्देशानुसार कर्म करने से मना करता है, तो वह उन गुणों द्वारा कर्म करने के लिए बाध्य होता है, जिनमें वह स्थित होता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के गुणों के विशेष संयोग के वशीभूत है और तदनुसार कर्म करता है। किन्तु जो स्वेच्छा से परमेश्वर के निर्देशानुसार कार्यरत होता है, वही गौरवान्वित होता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

ईश्वरः—भगवान्; **सर्व-भूतानाम्**—समस्त जीवों के; **हृत्-देशे**—हृदय में; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **तिष्ठति**—वास करता है; **भ्रामयन्**—भ्रमण करने के लिए बाध्य करता हुआ; **सर्व-भूतानि**—समस्त जीवों को; **यन्त्र**—यन्त्र में; **आरूढानि**—सवार, चढ़े हुए; **मायया**—भौतिक शक्ति के वशीभूत होकर।

हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और भौतिक शक्ति से निर्मित यन्त्र में सवार की भाँति बैठे समस्त जीवों को अपनी माया से घुमा (भरमा) रहे हैं।

तात्पर्य : अर्जुन परम ज्ञाता न था और लड़ने या न लड़ने का उसका निर्णय उसके क्षुद्र विवेक तक सीमित था। भगवान् कृष्ण ने उपदेश दिया कि जीवात्मा (व्यक्ति) ही सर्वेसर्वा नहीं है। भगवान् या स्वयं कृष्ण अन्तर्यामी परमात्मा रूप में हृदय में स्थित होकर जीव

को निर्देश देते हैं। शरीर-परिवर्तन होते ही जीव अपने विगत कर्मों को भूल जाता है, लेकिन परमात्मा जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य का ज्ञाता है, उसके समस्त कार्यों का साक्षी रहता है। अतएव जीवों के सभी कार्यों का संचालन इसी परमात्मा द्वारा होता है। जीव जितना योग्य होता है उतना ही पाता है और उस भौतिक शरीर द्वारा वहन किया जाता है, जो परमात्मा के निर्देश में भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न किया जाता है। ज्योंही जीव को किसी विशेष प्रकार के शरीर में स्थापित कर दिया जाता है, वह शारीरिक अवस्था के अन्तर्गत कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। अत्यधिक तेज मोटरकार में बैठा व्यक्ति कम तेज कार में बैठे व्यक्ति से अधिक तेज जाता है, भले ही जीव अर्थात् चालक एक ही क्यों न हो। इसी प्रकार परमात्मा के आदेश से भौतिक प्रकृति एक विशेष प्रकार के जीव के लिए एक विशेष शरीर का निर्माण करती है, जिससे वह अपनी पूर्व इच्छाओं के अनुसार कर्म कर सके। जीव स्वतन्त्र नहीं होता। मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह भगवान् से स्वतन्त्र है। व्यक्ति तो सदैव भगवान् के नियन्त्रण में रहता है। अतएव उसका कर्तव्य है कि वह शरणागत हो और अगले श्लोक का यही आदेश है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

तम्—उसकी; **एव**—निश्चय ही; **शरणम् गच्छ**—शरण में जाओ; **सर्व-भावेन**—सभी प्रकार से; **भारत**—हे भरतपुत्र; **तत्-प्रसादात्**—उसकी कृपा से; **पराम्**—दिव्य; **शान्तिम्**—शान्ति को; **स्थानम्**—धाम को; **प्राप्स्यसि**—प्राप्त करोगे; **शाश्वतम्**—शाश्वत।

हे भारत! सब प्रकार से उसी की शरण में जाओ। उसकी कृपा से तुम परम शान्ति को तथा परम नित्यधाम को प्राप्त करोगे।

तात्पर्य : अतएव जीव को चाहिए कि प्रत्येक हृदय में स्थित भगवान् की शरण ले। इससे इस संसार के समस्त प्रकार के दुखों से छुटकारा मिल जाएगा। ऐसी शरण पाने से मनुष्य न केवल इस जीवन के सारे कष्टों से छुटकारा पा सकेगा, अपितु अन्त में वह परमेश्वर के पास पहुँच जाएगा। वैदिक साहित्य में (ऋग्वेद १.२२.२०) दिव्य जगत् *तद्विष्णोः परमं पदम्* के रूप में वर्णित है। चूँकि सारी सृष्टि ईश्वर का राज्य है, अतएव इसकी प्रत्येक भौतिक वस्तु वास्तव में आध्यात्मिक है, लेकिन *परमं पदम्* विशेषतया नित्यधाम को बताता है, जो आध्यात्मिक आकाश या वैकुण्ठ कहलाता है।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में कहा गया है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः*—भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं। अतएव इस कथन कि मनुष्य अन्तःस्थित परमात्मा की शरण ले, का अर्थ है कि वह भगवान् कृष्ण की शरण ले। कृष्ण को पहले ही अर्जुन ने परम स्वीकार कर लिया है। दसवें अध्याय में उन्हें *परम ब्रह्म परम धाम* के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। अर्जुन ने कृष्ण को भगवान् तथा समस्त जीवों के परम धाम के रूप में स्वीकार कर रखा है, इसलिए नहीं कि यह उसका निजी अनुभव है, वरन् इसलिए भी कि नारद, असित, देवल, व्यास जैसे महापुरुष इसके प्रमाण हैं।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥६३॥

इति—इस प्रकार; **ते**—तुमको; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **आख्यातम्**—वर्णन किया गया; **गुह्यात्**—गुह्य से; **गुह्य-तरम्**—अधिक गुह्य; **मया**—मेरे द्वारा; **विमृश्य**—मनन करके; **एतत्**—इस; **अशेषेण**—पूर्णतया; **यथा**—जैसी; **इच्छसि**—इच्छा हो; **तथा**—वैसा ही; **कुरु**—करो।

इस प्रकार मैंने तुम्हें गुह्यतर ज्ञान बतला दिया। इस पर पूरी तरह से मनन करो और तब जो चाहो सो करो।

तात्पर्य : भगवान् ने पहले ही अर्जुन को *ब्रह्मभूत* ज्ञान बतला दिया है। जो इस *ब्रह्मभूत* अवस्था में होता है, वह प्रसन्न रहता है, न तो वह शोक करता है, न किसी वस्तु की कामना करता है। ऐसा गुह्यज्ञान के कारण होता है। कृष्ण परमात्मा का ज्ञान भी प्रकट करते हैं। यह ब्रह्मज्ञान भी है, लेकिन यह उससे श्रेष्ठ है।

यहाँ पर *यथेच्छसि तथा कुरु*—जैसी इच्छा हो वैसा करो—यह सूचित करता है कि ईश्वर जीव की यत्किंचित स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करता। *भगवद्गीता* में भगवान् ने सभी प्रकार से यह बतलाया है कि कोई अपनी जीवन दशा को किस प्रकार अच्छी बना सकता है। अर्जुन को उनका सर्वश्रेष्ठ उपदेश यह है कि हृदय में आसीन परमात्मा की शरणागत हुआ जाए। सही विवेक से मनुष्य को परमात्मा के आदेशानुसार कर्म करने के लिए तैयार होना चाहिए। इससे मनुष्य निरन्तर कृष्णभावनामृत में स्थित हो सकेगा, जो मानव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। अर्जुन को भगवान् प्रत्यक्षतः युद्ध करने का आदेश दे रहे हैं। भगवत् शरणागत होना जीवों के सर्वाधिक हित में है। इसमें परमेश्वर का कोई हित नहीं है। शरणागत होने के पूर्व जहाँ तक बुद्धि काम करे मनुष्य को इस विषय पर मनन करने की छूट मिली है और भगवान् के आदेश को स्वीकार करने की यही सर्वोत्तम विधि है। ऐसा आदेश कृष्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधिस्वरूप गुरु के माध्यम से भी प्राप्त होता है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

सर्व-गुह्य-तमम्—सबों में अत्यन्त गुह्य; **भूयः**—पुनः; **शृणु**—सुनो; **मे**—मुझसे; **परमम्**—परम; **वचः**—आदेश; **इष्टः असि**—तुम प्रिय हो; **मे**—मेरे, मुझको; **दृढम्**—अत्यन्त; **इति**—इस प्रकार; **ततः**—अतएव; **वक्ष्यामि**—कह रहा हूँ; **ते**—तुम्हारे; **हितम्**—लाभ के लिए।

चूँकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो, अतएव मैं तुम्हें अपना परम आदेश, जो सर्वाधिक गुह्यज्ञान है, बता रहा हूँ। इसे अपने हित के लिए सुनो।

तात्पर्य : अर्जुन को गुह्यज्ञान (ब्रह्मज्ञान) तथा गुह्यतरज्ञान (परमात्मा ज्ञान) प्रदान करने के बाद भगवान् अब उसे गुह्यतम ज्ञान प्रदान करने जा रहे हैं—यह है भगवान् के शरणागत होने का ज्ञान। नवें अध्याय के अन्त में उन्होंने कहा था—*मन्मनाः*—सदैव मेरा चिन्तन करो। उसी आदेश को यहाँ पर *भगवद्गीता* के सार के रूप में जोर देने के लिए

दुहराया जा रहा है, यह सार सामान्यजन की समझ में नहीं आता। लेकिन जो कृष्ण को सचमुच अत्यन्त प्रिय है, कृष्ण का शुद्धभक्त है, वह समझ लेता है। सारे वैदिक साहित्य में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आदेश है। इस प्रसंग में जो कुछ कृष्ण कहते हैं, वह ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है और इसका पालन न केवल अर्जुन द्वारा होना चाहिए, अपितु समस्त जीवों द्वारा होना चाहिए।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

मत्-मनाः—मेरे विषय में सोचते हुए; **भव**—होओ; **मत्-भक्तः**—मेरा भक्त; **मत्-याजी**—मेरा पूजक; **माम्**—मुझको; **नमस्कुरु**—नमस्कार करो; **माम्**—मेरे पास; **एव**—ही; **एष्यसि**—आओगे; **सत्यम्**—सच-सच; **ते**—तुमसे; **प्रतिजाने**—वायदा या प्रतिज्ञा करता हूँ; **प्रियः**—प्रिय; **असि**—हो; **मे**—मुझको।

सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे परम प्रिय मित्र हो।

तात्पर्य : ज्ञान का गुह्यतम अंश है कि मनुष्य कृष्ण का शुद्ध भक्त बने, सदैव उन्हीं का चिन्तन करे और उन्हीं के लिए कर्म करे। व्यावसायिक ध्यानी बनना ठीक नहीं। जीवन को इस प्रकार ढालना चाहिए कि कृष्ण का चिन्तन करने का सदा अवसर प्राप्त हो। मनुष्य इस प्रकार कर्म करे कि उसके सारे नित्य कर्म कृष्ण के लिए हों। वह अपने जीवन को इस प्रकार व्यवस्थित करे कि चौबीसों घण्टे कृष्ण का ही चिन्तन करता रहे और भगवान् की यह प्रतिज्ञा है कि जो इस प्रकार कृष्णभावनामय होगा, वह निश्चित रूप से कृष्णधाम को जाएगा जहाँ वह साक्षात् कृष्ण के सान्निध्य में रहेगा। यह गुह्यतम ज्ञान अर्जुन को इसीलिए बताया गया, क्योंकि वह कृष्ण का प्रिय मित्र (सखा) है। जो कोई भी अर्जुन के पथ का अनुसरण करता है, वह कृष्ण का प्रिय सखा बनकर अर्जुन जैसी ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

ये शब्द इस बात पर बल देते हैं कि मनुष्य को अपना मन उस कृष्ण पर एकाग्र करना चाहिए जो दोनों हाथों से वंशी धारण किये, सुन्दर मुखवाले तथा अपने बालों में मोर पंख धारण किये हुए साँवले बालक के रूप में हैं। कृष्ण का वर्णन *ब्रह्मसंहिता* तथा अन्य ग्रंथों में पाया जाता है। मनुष्य को परम ईश्वर के आदि रूप कृष्ण पर अपने मन को एकाग्र करना चाहिए। उसे अपने मन को भगवान् के अन्य रूपों की ओर नहीं मोड़ना चाहिए। भगवान् के नाना रूप हैं, यथा विष्णु, नारायण, राम, वराह आदि। किन्तु भक्त को चाहिए कि अपने मन को उस एक रूप पर केन्द्रित करे जो अर्जुन के समक्ष था। कृष्ण के रूप पर मन की यह एकाग्रता ज्ञान का गुह्यतम अंश है जिसका प्रकटीकरण अर्जुन के लिए किया गया, क्योंकि वह कृष्ण का अत्यन्त प्रिय सखा है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

सर्व-धर्मान्—समस्त प्रकार के धर्म; **परित्यज्य**—त्यागकर; **माम्**—मेरी; **एकम्**—एकमात्र; **शरणम्**—शरण में; **व्रज**—जाओ; **अहम्**—मैं; **त्वाम्**—तुमको; **सर्व**—समस्त; **पापेभ्यः**—पापों से; **मोक्षयिष्यामि**—उद्धार करूँगा; **मा**—मत; **शुचः**—चिन्ता करो।

समस्त प्रकार के धर्मों का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। डरो मत।

तात्पर्य : भगवान् ने अनेक प्रकार के ज्ञान तथा धर्म की विधियाँ बताई हैं—परब्रह्म का ज्ञान, परमात्मा का ज्ञान, अनेक प्रकार के आश्रमों तथा वर्णों का ज्ञान, संन्यास का ज्ञान, अनासक्ति, इन्द्रिय तथा मन का संयम, ध्यान आदि का ज्ञान। उन्होंने अनेक प्रकार से नाना प्रकार के धर्मों का वर्णन किया है। अब, *भगवद्गीता* का सार प्रस्तुत करते हुए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! अभी तक बताई गई सारी विधियों का परित्याग करके, अब केवल मेरी शरण में आओ। इस शरणागति से वह समस्त पापों से बच जाएगा, क्योंकि भगवान् स्वयं उसकी रक्षा का वचन दे रहे हैं।

सातवें अध्याय में यह कहा गया था कि वही कृष्ण की पूजा कर सकता है, जो सारे पापों से मुक्त हो गया हो। इस प्रकार कोई यह सोच सकता है कि समस्त पापों से मुक्त हुए बिना कोई शरणागति नहीं पा सकता है। ऐसे सन्देह के लिए यहाँ यह कहा गया है कि कोई समस्त पापों से मुक्त न भी हो तो केवल श्रीकृष्ण के शरणागत होने पर स्वतः मुक्त कर दिया जाता है। पापों से मुक्त होने के लिए कठोर प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्य को बिना झिझक के कृष्ण को समस्त जीवों के रक्षक के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। उसे चाहिए कि श्रद्धा तथा प्रेम से उनकी शरण ग्रहण करे।

हरि भक्तिविलास में (११.६७६) कृष्ण की शरण ग्रहण करने की विधि का वर्णन हुआ है—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

भक्तियोग के अनुसार मनुष्य को वही धर्म स्वीकार करना चाहिए, जिससे अन्ततः भगवद्भक्ति हो सके। समाज में अपनी स्थिति के अनुसार कोई एक विशेष कर्म कर सकता है, लेकिन यदि अपना कर्म करने से कोई कृष्णभावनामृत तक नहीं पहुँच पाता, तो उसके सारे कार्यकलाप व्यर्थ हो जाते हैं। जिस कर्म से कृष्णभावनामृत की पूर्णावस्था न प्राप्त हो सके उससे बचना चाहिए। मनुष्य को विश्वास होना चाहिए कि कृष्ण समस्त परिस्थितियों में उसकी सभी कठिनाइयों से रक्षा करेंगे। इसके विषय में सोचने की कोई आवश्यकता नहीं कि जीवन-निर्वाह कैसे होगा? कृष्ण इसको सँभालेंगे। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आप को निस्सहाय माने और अपने जीवन की प्रगति के लिए कृष्ण को ही अवलम्ब समझे। पूर्ण कृष्णभावनाभावित होकर भगवद्भक्ति में प्रवृत्त होते ही वह प्रकृति के समस्त कल्मष से मुक्त हो जाता है। धर्म की विविध विधियाँ हैं और ज्ञान, ध्यानयोग आदि जैसे शुद्ध करने वाले अनुष्ठान हैं, लेकिन जो कृष्ण के शरणागत हो

जाता है, उसे इतने सारे अनुष्ठानों के पालन की आवश्यकता नहीं रह जाती। कृष्ण की शरण में जाने मात्र से वह व्यर्थ समय गँवाने से बच जाएगा। इस प्रकार वह तुरन्त सारी उन्नति कर सकता है और समस्त पापों से मुक्त हो सकता है।

श्रीकृष्ण की सुन्दर छवि के प्रति मनुष्य को आकृष्ट होना चाहिए। उनका नाम कृष्ण इसीलिए पड़ा, क्योंकि वे सर्वाकर्षक हैं। जो व्यक्ति कृष्ण की सुन्दर, सर्वशक्तिमान छवि से आकृष्ट होता है, वह भाग्यशाली है। अध्यात्मवादी कई प्रकार के होते हैं—कुछ निर्गुण ब्रह्म के प्रति आकृष्ट होते हैं, कुछ परमात्मा के प्रति लेकिन जो भगवान् के साकार रूप के प्रति आकृष्ट होता है और इससे भी बढ़कर जो साक्षात् भगवान् कृष्ण के प्रति आकृष्ट होता है, वह सर्वोच्च योगी है। दूसरे शब्दों में, अनन्यभाव से कृष्ण की भक्ति गुह्यतम ज्ञान है और सम्पूर्ण *गीता* का यही सार है। कर्मयोगी, दार्शनिक, योगी तथा भक्त सभी अध्यात्मवादी कहलाते हैं, लेकिन इनमें से शुद्धभक्त ही सर्वश्रेष्ठ है। यहाँ पर *मा शुचः* (मत डरो, मत झिझको, मत चिन्ता करो) विशिष्ट शब्दों का प्रयोग अत्यन्त सार्थक है। मनुष्य को यह चिन्ता होती है कि वह किस प्रकार सारे धर्मों को त्यागे और एकमात्र कृष्ण की शरण में जाए, लेकिन ऐसी चिन्ता व्यर्थ है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥

इदम्—यह; **ते**—तुम्हारे द्वारा; **न**—कभी नहीं; **अतपस्काय**—असंयमी के लिए; **न**—कभी नहीं; **अभक्ताय**—अभक्त के लिए; **कदाचन**—किसी समय; **न**—कभी नहीं; **च**—भी; **अशुश्रूषवे**—जो भक्ति में रत नहीं है; **वाच्यम्**—कहने के लिए; **न**—कभी नहीं; **च**—भी; **माम्**—मेरे प्रति; **यः**—जो; **अभ्यसूयति**—द्वेष करता है।

यह गुह्यज्ञान उनको कभी भी न बताया जाय जो न तो संयमी हैं, न एकनिष्ठ, न भक्ति में रत हैं, न ही उसे जो मुझसे द्वेष करता हो।

तात्पर्य : जिन लोगों ने तपस्यामय धार्मिक अनुष्ठान नहीं किये, जिन्होंने कृष्णभावनामृत में भक्ति का कभी प्रयत्न नहीं किया, जिन्होंने किसी शुद्धभक्त की सेवा नहीं की तथा विशेषतया जो लोग कृष्ण को केवल ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं, या जो कृष्ण की महानता से द्वेष रखते हैं, उन्हें यह परम गुह्यज्ञान नहीं बताना चाहिए। लेकिन कभी-कभी यह देखा जाता है कि कृष्ण से द्वेष रखने वाले आसुरी पुरुष भी कृष्ण की पूजा भिन्न प्रकार से करते हैं और व्यवसाय चलाने के लिए *भगवद्गीता* का प्रवचन करने का धंधा अपना लेते हैं। लेकिन जो सचमुच कृष्ण को जानने का इच्छुक हो उसे *भगवद्गीता* के ऐसे भाष्यों से बचना चाहिए। वास्तव में कामी लोग *भगवद्गीता* के प्रयोजन को नहीं समझ पाते। यदि कोई कामी न भी हो और वैदिक शास्त्रों द्वारा आदिष्ट नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करता हो, लेकिन यदि वह भक्त नहीं है, तो वह कृष्ण को नहीं समझ सकता। और यदि वह अपने को कृष्णभक्त बताता है, लेकिन कृष्णभावनाभावित कार्यकलापों में रत नहीं रहता, तब भी वह कृष्ण को नहीं समझ पाता। ऐसे बहुत से लोग हैं, जो भगवान् से इसलिए द्वेष रखते हैं, क्योंकि उन्होंने *भगवद्गीता* में कहा है

कि वे परम हैं और कोई न तो उनसे बढ़कर, न उनके समान है। ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं, जो कृष्ण से द्वेष रखते हैं। ऐसे लोगों को *भगवद्गीता* नहीं सुनाना चाहिए, क्योंकि वे उसे समझ नहीं पाते। श्रद्धाविहीन लोग *भगवद्गीता* तथा कृष्ण को नहीं समझ पाएँगे। शुद्धभक्त से कृष्ण को समझे बिना किसी को *भगवद्गीता* की टीका करने का साहस नहीं करना चाहिए।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥

यः—जो; **इदम्**—इस; **परमम्**—अत्यन्त; **गुह्यम्**—रहस्य को; **मत्**—मेरे; **भक्तेषु**—भक्तों में से; **अभिधास्यति**—कहता है; **भक्तिम्**—भक्ति को; **मयि**—मुझको; **पराम्**—दिव्य; **कृत्वा**—करके; **माम्**—मुझको; **एव**—निश्चय ही; **एष्यति**—प्राप्त होता है; **असंशयः**—इसमें कोई सन्देह नहीं।

जो व्यक्ति भक्तों को यह परम रहस्य बताता है, वह शुद्धभक्ति को प्राप्त करेगा और अन्त में वह मेरे पास वापस आएगा।

तात्पर्य : सामान्यतः यह उपदेश दिया जाता है कि केवल भक्तों के बीच में *भगवद्गीता* की विवेचना की जाय, क्योंकि जो लोग भक्त नहीं हैं, वे न तो कृष्ण को समझेंगे, न ही *भगवद्गीता* को। जो लोग कृष्ण को तथा *भगवद्गीता* को यथारूप में स्वीकार नहीं करते, उन्हें मनमाने ढंग से *भगवद्गीता* की व्याख्या करने का प्रयत्न करने का अपराध मोल नहीं लेना चाहिए। *भगवद्गीता* की विवेचना उन्हीं से की जाय, जो कृष्ण को भगवान् के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार हों। यह एकमात्र भक्तों का विषय है, दार्शनिक चिन्तकों का नहीं, लेकिन जो कोई भी *भगवद्गीता* को यथारूप में प्रस्तुत करने का सच्चे मन से प्रयास करता है, वह भक्ति के कार्यकलापों में प्रगति करता है और शुद्ध भक्तिमय जीवन को प्राप्त होता है। ऐसी शुद्धभक्ति के फलस्वरूप उसका भगवद्धाम जाना ध्रुव है।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ ६९॥

न—कभी नहीं; **च**—तथा; **तस्मात्**—उसकी अपेक्षा; **मनुष्येषु**—मनुष्यों में; **कश्चित्**—कोई; **मे**—मुझको; **प्रिय-कृत्-तमः**—अत्यन्त प्रिय; **भविता**—होगा; **न**—न तो; **च**—तथा; **मे**—मुझको; **तस्मात्**—उसकी अपेक्षा, उससे; **अन्यः**—कोई दूसरा; **प्रिय-तरः**—अधिक प्रिय; **भुवि**—इस संसार में।

इस संसार में उसकी अपेक्षा कोई अन्य सेवक न तो मुझे अधिक प्रिय है और न कभी होगा।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥

अध्येष्यते—अध्ययन या पाठ करेगा; **च**—भी; **यः**—जो; **इमम्**—इस; **धर्म्यम्**—पवित्र; **संवादम्**—वार्तालाप या संवाद को; **आवयोः**—हम दोनों के; **ज्ञान**—ज्ञान रूपी; **यज्ञेन**—यज्ञ से;

तेन—उसके द्वारा; **अहम्**—मैं; **इष्टः**—पूजित; **स्याम्**—होऊँगा; **इति**—इस प्रकार; **मे**—मेरा; **मतिः**—मत।

और मैं घोषित करता हूँ कि जो हमारे इस पवित्र संवाद का अध्ययन करता है, वह अपनी बुद्धि से मेरी पूजा करता है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।। ७१।।

श्रद्धा-वान्—श्रद्धालु; **अनसूयः**—द्वेषरहित; **च**—तथा; **शृणुयात्**—सुनता है; **अपि**—निश्चय ही; **यः**—जो; **नरः**—मनुष्य; **सः**—वह; **अपि**—भी; **मुक्तः**—मुक्त होकर; **शुभान्**—शुभ; **लोकान्**—लोकों को; **प्राप्नुयात्**—प्राप्त करता है; **पुण्य-कर्मणाम्**—पुण्यात्माओं का।

और जो श्रद्धा समेत तथा द्वेषरहित होकर इसे सुनता है, वह सारे पापों से मुक्त हो जाता है और उन शुभ लोकों को प्राप्त होता है, जहाँ पुण्यात्माएँ निवास करती हैं।

तात्पर्य : इस अध्याय के ६७वें श्लोक में भगवान् ने स्पष्टतः मना किया है कि जो लोग उनसे द्वेष रखते हैं उन्हें *गीता* न सुनाई जाए। *भगवद्गीता* केवल भक्तों के लिए है। लेकिन ऐसा होता है कि कभी-कभी भगवद्भक्त आम कक्षा में प्रवचन करता है और उस कक्षा में सारे छात्रों के भक्त होने की अपेक्षा नहीं की जाती। तो फिर ऐसे लोग खुली कक्षा क्यों चलाते हैं? यहाँ यह बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति भक्त नहीं होता, फिर भी बहुत से लोग ऐसे हैं, जो कृष्ण से द्वेष नहीं रखते। उन्हें कृष्ण पर परमेश्वर रूप में श्रद्धा रहती है। यदि ऐसे लोग भगवान् के बारे में किसी प्रामाणिक भक्त से सुनते हैं, तो वे अपने सभी पापों से तुरन्त मुक्त हो जाते हैं और ऐसे लोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ पुण्यात्माएँ वास करती हैं। अतएव *भगवद्गीता* के श्रवण मात्र से ऐसे व्यक्ति को भी पुण्यकर्मों का फल प्राप्त हो जाता है, जो अपने को शुद्ध भक्त बनाने का प्रयत्न नहीं करता। इस प्रकार भगवद्भक्त हर एक व्यक्ति के लिए अवसर प्रदान करता है कि वह समस्त पापों से मुक्त होकर भगवान् का भक्त बने।

सामान्यतया जो लोग पापों से मुक्त हैं, जो पुण्यात्मा हैं, वे अत्यन्त सरलता से कृष्णभावनामृत को ग्रहण कर लेते हैं। यहाँ पर *पुण्यकर्मणाम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। यह वैदिक साहित्य में वर्णित अश्वमेध यज्ञ जैसे महान यज्ञों का सूचक है। जो भक्ति का आचरण करने वाले पुण्यात्मा हैं, किन्तु शुद्ध नहीं होते, वे ध्रुवलोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ ध्रुव महाराज की अध्यक्षता है। वे भगवान् के महान भक्त हैं और उनका अपना विशेष लोक है, जो ध्रुव तारा या ध्रुवलोक कहलाता है।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय।। ७२।।

कच्चित्—क्या; **एतत्**—यह; **श्रुतम्**—सुना गया; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **त्वया**—तुम्हारे द्वारा; **एक-अग्रेण**—एकाग्र; **चेतसा**—मन से; **कच्चित्**—क्या; **अज्ञान**—अज्ञान का; **सम्मोहः**—मोह, भ्रम; **प्रणष्टः**—दूर हो गया; **ते**—तुम्हारा; **धनञ्जय**—हे सम्पत्ति के विजेता (अर्जुन)।

हे पृथापुत्र! हे धनञ्जय! क्या तुमने इसे (इस शास्त्र को) एकाग्र चित्त होकर सुना? और क्या अब तुम्हारा अज्ञान तथा मोह दूर हो गया है?

तात्पर्य : भगवान् अर्जुन के गुरु का काम कर रहे थे। अतएव यह उनका धर्म था कि अर्जुन से पूछते कि उसने पूरी *भगवद्गीता* सही ढंग से समझ ली है या नहीं। यदि नहीं समझी है, तो भगवान् उसे फिर से किसी अंश विशेष या पूरी *भगवद्गीता* बताने को तैयार हैं। वस्तुतः जो भी व्यक्ति कृष्ण जैसे प्रामाणिक गुरु या उनके प्रतिनिधि से *भगवद्गीता* को सुनता है, उसका सारा अज्ञान दूर हो जाता है। *भगवद्गीता* कोई सामान्य ग्रंथ नहीं, जिसे किसी कवि या उपन्यासकार ने लिखा हो, इसे साक्षात् भगवान् ने कहा है। जो भाग्यशाली व्यक्ति इन उपदेशों को कृष्ण से या उनके किसी प्रामाणिक आध्यात्मिक प्रतिनिधि से सुनता है, वह अवश्य ही मुक्त पुरुष बनकर अज्ञान के अंधकार को पार कर लेता है।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **नष्टः**—दूर हुआ; **मोहः**—मोह; **स्मृतिः**—स्मरण शक्ति; **लब्धा**—पुनः प्राप्त हुई; **त्वत्-प्रसादात्**—आपकी कृपा से; **मया**—मेरे द्वारा; **अच्युत**—हे अच्युत कृष्ण; **स्थितः**—स्थित; **अस्मि**—हूँ; **गत**—दूर हुए; **सन्देहः**—सारे संशय; **करिष्ये**—पूरा करूँगा; **वचनम्**—आदेश को; **तव**—तुम्हारे।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण, हे अच्युत! अब मेरा मोह दूर हो गया। आपके अनुग्रह से मुझे मेरी स्मरण शक्ति वापस मिल गई। अब मैं संशयरहित तथा दृढ़ हूँ और आपके आदेशानुसार कर्म करने के लिए उद्यत हूँ।

तात्पर्य : जीव जिसका प्रतिनिधित्व अर्जुन कर रहा है, उसका स्वरूप यह है कि वह परमेश्वर के आदेशानुसार कर्म करे। वह आत्मानुशासन (संयम) के लिए बना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु का कहना है कि जीव का स्वरूप परमेश्वर के नित्य दास के रूप में है। इस नियम को भूल जाने के कारण जीव प्रकृति द्वारा बद्ध हो जाता है। लेकिन परमेश्वर की सेवा करने से वह ईश्वर का मुक्त दास बनता है। जीव का स्वरूप सेवक के रूप में है। उसे माया या परमेश्वर में से किसी एक की सेवा करनी होती है। यदि वह परमेश्वर की सेवा करता है, तो वह अपनी सामान्य स्थिति में रहता है। लेकिन यदि वह बाह्यशक्ति माया की सेवा करना पसन्द करता है, तो वह निश्चित रूप से बन्धन में पड़ जाता है। इस भौतिक जगत् में जीव मोहवश सेवा कर रहा है। वह काम तथा इच्छाओं से बँधा हुआ है, फिर भी वह अपने को जगत् का स्वामी मानता है। यही मोह कहलाता है। मुक्त होने पर पुरुष का मोह दूर हो जाता है और वह स्वेच्छा से भगवान् की इच्छानुसार कर्म करने के लिए परमेश्वर की शरण ग्रहण करता है। जीव को फाँसने का माया का अन्तिम पाश यह धारणा है कि वह ईश्वर है। जीव सोचता है कि अब

वह बद्धजीव नहीं रहा, अब तो वह ईश्वर है। वह इतना मूर्ख होता है कि वह यह नहीं सोच पाता कि यदि वह ईश्वर होता तो इतना संशयग्रस्त क्यों रहता। वह इस पर विचार नहीं करता। इसलिए यही माया का अन्तिम पाश होता है। वस्तुतः माया से मुक्त होना भगवान् श्रीकृष्ण को समझना है और उनके आदेशानुसार कर्म करने के लिए सहमत होना है।

इस श्लोक में *मोह* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मोह ज्ञान का विरोधी होता है। वास्तविक ज्ञान तो यह समझना है कि प्रत्येक जीव भगवान् का शाश्वत सेवक है। लेकिन जीव अपने को इस स्थिति में न समझकर सोचता है कि वह सेवक नहीं, अपितु इस जगत् का स्वामी है, क्योंकि वह प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहता है। यह मोह भगवत्कृपा से या शुद्ध भक्त की कृपा से जीता जा सकता है। इस मोह के दूर होने पर मनुष्य कृष्णभावनामृत में कर्म करने के लिए राजी हो जाता है।

कृष्ण के आदेशानुसार कर्म करना कृष्णभावनामृत है। बद्धजीव माया द्वारा मोहित होने के कारण यह नहीं जान पाता कि परमेश्वर स्वामी हैं, जो ज्ञानमय हैं और सर्वसम्पत्तिवान हैं। वे अपने भक्तों को जो कुछ चाहे दे सकते हैं। वे सब के मित्र हैं और भक्तों पर विशेष कृपालु रहते हैं। वे प्रकृति तथा समस्त जीवों के अधीक्षक हैं। वे अक्षय काल के नियन्त्रक हैं और समस्त ऐश्वर्यों एवं शक्तियों से पूर्ण हैं। भगवान् भक्त को आत्मसमर्पण भी कर सकते हैं। जो उन्हें नहीं जानता वह मोह के वश में है, वह भक्त नहीं बल्कि माया का सेवक बन जाता है। लेकिन अर्जुन भगवान् से *भगवद्गीता* सुनकर समस्त मोह से मुक्त हो गया। वह यह समझ गया कि कृष्ण केवल उसके मित्र ही नहीं बल्कि भगवान् हैं और वह कृष्ण को वास्तव में समझ गया। अतएव *भगवद्गीता* का पाठ करने का अर्थ है कृष्ण को वास्तविकता के साथ जानना। जब व्यक्ति को पूर्ण ज्ञान होता है, तो वह स्वभावतः कृष्ण को आत्मसमर्पण करता है। जब अर्जुन समझ गया कि यह तो जनसंख्या की अनावश्यक वृद्धि को कम करने के लिए कृष्ण की योजना थी, तो उसने कृष्ण की इच्छानुसार युद्ध करना स्वीकार कर लिया। उसने पुनः भगवान् के आदेशानुसार युद्ध करने के लिए अपना धनुष-बाण ग्रहण कर लिया।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

सञ्जयःउवाच—संजय ने कहा; **इति**—इस प्रकार; **अहम्**—मैं; **वासुदेवस्य**—कृष्ण का; **पार्थस्य**—तथा अर्जुन का; **च**—भी; **महा-आत्मनः**—महात्माओं का; **संवादम्**—वार्ता; **इमम्**—यह; **अश्रौषम्**—सुनी है; **अद्भुतम्**—अद्भुत; **रोम-हर्षणम्**—रोंगटे खड़े करने वाली।

संजय ने कहा—इस प्रकार मैंने कृष्ण तथा अर्जुन इन दोनों महापुरुषों की वार्ता सुनी। और यह सन्देश इतना अद्भुत है कि मेरे शरीर में रोमाञ्च हो रहा है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के प्रारम्भ में धृतराष्ट्र ने अपने मन्त्री संजय से पूछा था "कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में क्या हुआ?" गुरु व्यासदेव की कृपा से संजय के हृदय में सारी घटना

स्फुरित हुई थी। इस प्रकार उसने युद्धस्थल की विषय वस्तु कह सुनायी थी। यह वार्ता आश्चर्यप्रद थी, क्योंकि इसके पूर्व दो महापुरुषों के बीच ऐसी महत्त्वपूर्ण वार्ता कभी नहीं हुई थी और न भविष्य में पुनः होगी। यह वार्ता इसलिए आश्चर्यप्रद थी, क्योंकि भगवान् भी अपने तथा अपनी शक्तियों के विषय में जीवात्मा अर्जुन से वर्णन कर रहे थे, जो परम भगवद्भक्त था। यदि हम कृष्ण को समझने के लिए अर्जुन का अनुसरण करें तो हमारा जीवन सुखी तथा सफल हो जाए। संजय ने इसका अनुभव किया और जैसे-जैसे उसकी समझ में आता गया उसने यह वार्ता धृतराष्ट्र से कह सुनाई। अब यह निष्कर्ष निकला कि जहाँ-जहाँ कृष्ण तथा अर्जुन हैं, वहीं-वहीं विजय होती है।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ७५॥

व्यास-प्रसादात्—व्यासदेव की कृपा से; **श्रुतवान्**—सुना है; **एतत्**—इस; **गुह्यम्**—गोपनीय; **अहम्**—मैंने; **परम्**—परम; **योगम्**—योग को; **योग-ईश्वरात्**—योग के स्वामी; **कृष्णात्**—कृष्ण से; **साक्षात्**—साक्षात्; **कथयतः**—कहते हुए; **स्वयम्**—स्वयं।

व्यास की कृपा से मैंने ये परम गुह्य बातें साक्षात् योगेश्वर कृष्ण के मुख से अर्जुन के प्रति कही जाती हुई सुनीं।

तात्पर्य : व्यास संजय के गुरु थे और संजय स्वीकार करते हैं कि व्यास की कृपा से ही वे भगवान् को समझ सके। इसका अर्थ यह हुआ कि गुरु के माध्यम से ही कृष्ण को समझना चाहिए, प्रत्यक्ष रूप से नहीं। गुरु स्वच्छ माध्यम है, यद्यपि अनुभव फिर भी प्रत्यक्ष ही होता है। गुरु-परम्परा का यही रहस्य है। जब गुरु प्रामाणिक हो तो *भगवद्गीता* का प्रत्यक्ष श्रवण किया जा सकता है, जैसा अर्जुन ने किया। संसार भर में अनेक योगी हैं, लेकिन कृष्ण योगेश्वर हैं। उन्होंने *भगवद्गीता* में स्पष्ट उपदेश दिया है, "मेरी शरण में आओ। जो ऐसा करता है वह सर्वोच्च योगी है।" छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक में इसकी पुष्टि हुई है—*योगिनाम् अपि सर्वेषाम्।*

नारद कृष्ण के शिष्य हैं और व्यास के गुरु। अतएव व्यास अर्जुन के ही समान प्रामाणिक हैं, क्योंकि वे गुरु-परम्परा में आते हैं और संजय व्यासदेव के शिष्य हैं। अतएव व्यास की कृपा से संजय की इन्द्रियाँ विमल हो सकीं और वे कृष्ण का साक्षात् दर्शन कर सके तथा उनकी वार्ता सुन सके। जो व्यक्ति कृष्ण का प्रत्यक्ष श्रवण करता है, वह इस गुह्यज्ञान को समझ सकता है। यदि वह गुरु-परम्परा में नहीं होता तो वह कृष्ण की वार्ता नहीं सुन सकता। अतएव उसका ज्ञान सदैव अधूरा रहता है, विशेषतया जहाँ तक *भगवद्गीता* समझने का प्रश्न है।

भगवद्गीता में योग की समस्त पद्धतियों का—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग का वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण इन समस्त योगों के स्वामी हैं। लेकिन यह समझ लेना चाहिए कि जिस तरह अर्जुन कृष्ण को प्रत्यक्षतः समझ सकने के लिए भाग्यशाली था, उसी प्रकार व्यासदेव की कृपा से संजय भी कृष्ण को साक्षात् सुनने में समर्थ हो सका। वस्तुतः कृष्ण से प्रत्यक्षतः सुनने एवं व्यास जैसे गुरु के माध्यम से प्रत्यक्ष सुनने में कोई अन्तर

नहीं है। गुरु भी व्यासदेव का प्रतिनिधि होता है। अतएव वैदिक पद्धति के अनुसार अपने गुरु के जन्मदिवस पर शिष्यगण व्यास पूजा नामक उत्सव रचाते हैं।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

राजन्—हे राजा; **संस्मृत्य**—स्मरण करके; **संस्मृत्य**—स्मरण करके; **संवादम्**—वार्ता को; **इमम्**—इस; **अद्भुतम्**—आश्चर्यजनक; **केशव**—भगवान् कृष्ण; **अर्जुनयोः**—तथा अर्जुन की; **पुण्यम्**—पवित्र; **हृष्यामि**—हर्षित होता हूँ; **च**—भी; **मुहुःमुहुः**—बारम्बार।

हे राजन्! जब मैं कृष्ण तथा अर्जुन के मध्य हुई इस आश्चर्यजनक तथा पवित्र वार्ता का बारम्बार स्मरण करता हूँ, तो प्रति क्षण आह्लाद से गद्गद् हो उठता हूँ।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* का ज्ञान इतना दिव्य है कि जो भी अर्जुन तथा कृष्ण के संवाद को जान लेता है, वह पुण्यात्मा बन जाता है और इस वार्तालाप को भूल नहीं सकता। आध्यात्मिक जीवन की यह दिव्य स्थिति है। दूसरे शब्दों में, जब कोई *गीता* को सही स्रोत से अर्थात् प्रत्यक्षतः कृष्ण से सुनता है, तो उसे पूर्ण कृष्णभावनामृत प्राप्त होता है। कृष्णभावनामृत का फल यह होता है कि वह अत्यधिक प्रबुद्ध हो उठता है और जीवन का भोग आनन्द सहित कुछ काल तक नहीं, अपितु प्रत्येक क्षण करता है।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

तत्—उस; **च**—भी; **संस्मृत्य**—स्मरण करके; **संस्मृत्य**—स्मरण करके; **रूपम्**—स्वरूप को; **अति**—अत्यधिक; **अद्भुतम्**—अद्भुत; **हरेः**—भगवान् कृष्ण के; **विस्मयः**— आश्चर्य; **मे**—मेरा; **महान**—महान; **राजन्**—हे राजा; **हृष्यामि**—हर्षित हो रहा हूँ; **च**—भी; **पुनःपुनः**—फिर-फिर, बारम्बार।

हे राजन्! भगवान् कृष्ण के अद्भुत रूप का स्मरण करते ही मैं अधिकाधिक आश्चर्यचकित होता हूँ और पुनःपुनः हर्षित होता हूँ।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि व्यास की कृपा से संजय ने भी अर्जुन को दिखाये गये कृष्ण के विराट रूप को देखा था। निस्सन्देह यह कहा जाता है कि इसके पूर्व भगवान् कृष्ण ने कभी ऐसा रूप प्रकट नहीं किया था। यह केवल अर्जुन को दिखाया गया था, लेकिन उस समय कुछ महान भक्त भी उसे देख सके थे तथा व्यास उनमें से एक थे। वे भगवान् के परम भक्तों में से हैं और कृष्ण के शक्त्यावेश अवतार माने जाते हैं। व्यास ने इसे अपने शिष्य संजय के समक्ष प्रकट किया जिन्होंने अर्जुन को प्रदर्शित किये गये कृष्ण के उस अद्भुत रूप को स्मरण रखा और वे बारम्बार उसका आनन्द उठा रहे थे।

यत्र योगश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

यत्र—जहाँ; **योग-ईश्वरः**—योग के स्वामी; **कृष्णः**—भगवान् कृष्ण; **यत्र**—जहाँ; **पार्थः**—पृथापुत्र; **धनुः-धरः**—धनुषधारी; **तत्र**—वहाँ; **श्रीः**—ऐश्वर्य; **विजयः**—जीत; **भूतिः**—विलक्षण शक्ति; **ध्रुवा**—निश्चित; **नीतिः**—नीति; **मतिः मम**—मेरा मत।

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ परम धनुर्धर अर्जुन है, वहीं ऐश्वर्य, विजय, अलौकिक शक्ति तथा नीति भी निश्चित रूप से रहती है। ऐसा मेरा मत है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* का शुभारम्भ धृतराष्ट्र की जिज्ञासा से हुआ। वह भीष्म, द्रोण तथा कर्ण जैसे महारथियों की सहायता से अपने पुत्रों की विजय के प्रति आशावान था। उसे आशा थी कि विजय उसके पक्ष में होगी। लेकिन युद्धक्षेत्र के दृश्य का वर्णन करने के बाद संजय ने राजा से कहा "आप अपनी विजय की बात सोच रहे हैं, लेकिन मेरा मत है कि जहाँ कृष्ण तथा अर्जुन उपस्थित हैं, वहीं सम्पूर्ण श्री होगी।" उसने प्रत्यक्ष पुष्टि की कि धृतराष्ट्र को अपने पक्ष की विजय की आशा नहीं रखनी चाहिए। विजय तो अर्जुन के पक्ष की निश्चित है, क्योंकि उसमें कृष्ण हैं। श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन के सारथी का पद स्वीकार करना एक ऐश्वर्य का प्रदर्शन था। कृष्ण समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं और इनमें से वैराग्य एक है। ऐसे वैराग्य के भी अनेक उदाहरण प्राप्त हैं, क्योंकि कृष्ण वैराग्य के भी ईश्वर हैं।

युद्ध तो वास्तव में दुर्योधन तथा युधिष्ठिर के बीच था। अर्जुन अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर की ओर से लड़ रहा था। चूँकि कृष्ण तथा अर्जुन युधिष्ठिर की ओर थे अतएव युधिष्ठिर की विजय ध्रुव थी। युद्ध को यह निर्णय करना था कि संसार पर शासन कौन करेगा। संजय ने भविष्यवाणी की कि सत्ता युधिष्ठिर के हाथ में चली जाएगी। यहाँ पर इसकी भी भविष्यवाणी हुई है कि इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद युधिष्ठिर उत्तरोत्तर समृद्धि लाभ करेंगे, क्योंकि वे न केवल पुण्यात्मा तथा पवित्रात्मा थे, अपितु वे कठोर नीतिवादी थे। उन्होंने जीवन भर कभी असत्य भाषण नहीं किया था।

ऐसे अनेक अल्पज्ञ व्यक्ति हैं, जो *भगवद्गीता* को युद्धस्थल में दो मित्रों की वार्ता के रूप में ग्रहण करते हैं। लेकिन इससे ऐसा ग्रंथ कभी शास्त्र नहीं बन सकता। कुछ लोग विरोध कर सकते हैं कि कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने के लिए उकसाया, जो अनैतिक है, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि *भगवद्गीता* नीति का परम आदेश है। यह नीति विषयक आदेश नवें अध्याय के चौंतीसवें श्लोक में है—*मन्मना भव मद्भक्तः*। मनुष्य को कृष्ण का भक्त बनना चाहिए और सारे धर्मों का सार है—कृष्ण की शरणागति (*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। *भगवद्गीता* का आदेश धर्म तथा नीति की परम विधि है। अन्य सारी विधियाँ भले ही शुद्ध करने वाली तथा इस विधि तक ले जाने वाली हों, लेकिन *गीता* का अन्तिम आदेश समस्त नीतियों तथा धर्मों का सार वचन है—कृष्ण की शरण ग्रहण करो या कृष्ण को आत्मसमर्पण करो। यह अठारहवें अध्याय का मत है।

भगवद्गीता से हम यह समझ सकते हैं कि ज्ञान तथा ध्यान द्वारा अपनी अनुभूति एक विधि है, लेकिन कृष्ण की शरणागति सर्वोच्च सिद्धि है। यह *भगवद्गीता* के उपदेशों का सार है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अनुष्ठानों (कर्मकाण्ड) का मार्ग, ज्ञान का गुह्य

मार्ग हो सकता है। लेकिन धर्म के अनुष्ठान के गुह्य होने पर भी ध्यान तथा ज्ञान गुह्यतर हैं तथा पूर्ण कृष्णभावनाभावित होकर भक्ति में कृष्ण की शरणागति गुह्यतम उपदेश है। यही अठारहवें अध्याय का सार है।

भगवद्गीता की अन्य विशेषता यह है कि वास्तविक सत्य भगवान् कृष्ण हैं। परम सत्य की अनुभूति तीन रूपों में होती है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान् श्रीकृष्ण। परम सत्य के पूर्ण ज्ञान का अर्थ है, कृष्ण का पूर्ण ज्ञान। यदि कोई कृष्ण को जान लेता है तो ज्ञान के सारे विभाग इसी ज्ञान के अंश हैं। कृष्ण दिव्य हैं क्योंकि वे अपनी नित्य अन्तरंगा शक्ति में स्थित रहते हैं। जीव उनकी शक्ति से प्रकट हैं और दो श्रेणी के होते हैं—नित्यबद्ध तथा नित्यमुक्त। ऐसे जीवों की संख्या असंख्य है और वे सब कृष्ण के मूल अंश माने जाते हैं। भौतिक शक्ति २४ प्रकार से प्रकट होती है। सृष्टि शाश्वत काल द्वारा प्रभावित है और बहिरंगाशक्ति द्वारा इसका सृजन तथा संहार होता है। यह दृश्य जगत पुनःपुनः प्रकट तथा अप्रकट होता रहता है।

भगवद्गीता में पाँच प्रमुख विषयों की व्याख्या की गई है—भगवान्, भौतिक प्रकृति, जीव, शाश्वतकाल तथा सभी प्रकार के कर्म। सब कुछ भगवान् कृष्ण पर आश्रित है। परम सत्य की सभी धारणाएँ—निराकार ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा अन्य दिव्य अनुभूतियाँ—भगवान् के ज्ञान की कोटि में सन्निहित हैं। यद्यपि ऊपर से भगवान्, जीव, प्रकृति तथा काल भिन्न प्रतीत होते हैं, लेकिन ब्रह्म से कुछ भी भिन्न नहीं है। लेकिन ब्रह्म सदैव समस्त वस्तुओं से भिन्न है। भगवान् चैतन्य का दर्शन है "अचिन्त्यभेदाभेद"। यह दर्शन पद्धति परम सत्य के पूर्णज्ञान से युक्त है।

जीव अपने मूलरूप में शुद्ध आत्मा है। वह परमात्मा का एक परमाणु मात्र है। इस प्रकार भगवान् कृष्ण की उपमा सूर्य से दी जा सकती है और जीवों की सूर्यप्रकाश से। चूँकि सारे जीव कृष्ण की तटस्था शक्ति हैं, अतएव उनका संसर्ग भौतिक शक्ति (अपरा) या आध्यात्मिक शक्ति (परा) से होता है। दूसरे शब्दों में, जीव भगवान् की दो शक्तियों के मध्य में स्थित है और चूँकि उसका सम्बन्ध भगवान् की पराशक्ति से है, अतएव उसमें किंचित् स्वतन्त्रता रहती है। इस स्वतन्त्रता के सदुपयोग से ही वह कृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार वह ह्लादिनी शक्ति की अपनी सामान्य दशा को प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के अठारहवें अध्याय "उपसंहार—संन्यास की सिद्धि" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

लेखक-परिचय

कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद का जन्म १८९६ ई. में भारत के कलकत्ता नगर में हुआ था। अपने गुरु महाराज श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी से १९२२ में कलकत्ता में उनकी प्रथम भेंट हुई। एक सुप्रसिद्ध धर्म तत्त्ववेत्ता, अनुपम प्रचारक, विद्वान-भक्त, आचार्य एवं चौंसठ गौड़ीय मठों के संस्थापक श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती को ये सुशिक्षित नवयुवक प्रिय लगे और उन्होंने वैदिक ज्ञान के प्रचार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने की इनको प्रेरणा दी। श्रील प्रभुपाद उनके छात्र बने और ग्यारह वर्ष बाद (१९३३ ई.) प्रयाग (इलाहाबाद) में उनके विधिवत् दीक्षा-प्राप्त शिष्य हो गये।

अपनी प्रथम भेंट, १९२२ ई. में ही श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने श्रील प्रभुपाद से निवेदन किया था कि वे अंग्रेजी भाषा के माध्यम से वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। आगामी वर्षों में श्रील प्रभुपाद ने *श्रीमद्भगवद्गीता* पर एक टीका लिखी, गौड़ीय मठ के कार्य में सहयोग दिया तथा १९४४ ई. में बिना किसी की सहायता के एक अंग्रेजी पाक्षिक पत्रिका आरम्भ की जिसका सम्पादन, पाण्डुलिपि का टंकण और मुद्रित सामग्री के प्रूफ शोधन का सारा कार्य वे स्वयं करते थे। उन्होंने एकएक प्रति निःशुल्क बाँटकर भी इसके प्रकाशन को बनाये रखने के लिए संघर्ष किया। एक बार आरम्भ होकर फिर यह पत्रिका कभी बन्द नहीं हुई। अब यह उनके शिष्यों द्वारा पश्चिमी

देशों में भी चलाई जा रही है और तीस से अधिक भाषाओं में छप रही है।

श्रील प्रभुपाद के दार्शनिक ज्ञान एवं भक्ति की महत्ता पहचान कर "गौड़ीय वैष्णव समाज" ने १९४७ ई. में उन्हें भक्तिवेदान्त की उपाधि से सम्मानित किया। १९५० ई. में चौवन वर्ष की अवस्था में श्रील प्रभुपाद ने गृहस्थ जीवन से अवकाश लेकर वानप्रस्थ ले लिया जिससे वे अपने अध्ययन और लेखन के लिए अधिक समय दे सकें। तदनन्तर श्रील प्रभुपाद ने श्री वृन्दावन धाम की यात्रा की, जहाँ वे बड़ी ही सात्त्विक परिस्थितियों में मध्यकालीन ऐतिहासिक श्रीराधा-दामोदर मन्दिर में रहे। वहाँ वे अनेक वर्षों तक गम्भीर अध्ययन एवं लेखन में संलग्न रहे। १९५९ ई. में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। श्रीराधा-दामोदर मन्दिर में ही श्रील प्रभुपाद ने अपने जीवन के सबसे श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का आरम्भ किया था। यह ग्रन्थ था अठारह हजार श्लोक संख्या के *श्रीमद्भागवत* पुराण का अनेक खण्डों में अंग्रेजी में अनुवाद और व्याख्या। वहीं उन्होंने "अन्य लोकों की सुगम यात्रा" नामक पुस्तिका भी लिखी थी।

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ के तीन खण्ड प्रकाशित करने के बाद श्रील प्रभुपाद सितम्बर १९६५ ई. में अपने गुरुदेव का धर्मानुष्ठान पूरा करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका गये। अन्ततः श्रील प्रभुपाद ने भारतवर्ष के श्रेष्ठ दार्शनिक और धार्मिक ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद, टीकाएँ एवं संक्षिप्त अध्ययन-सार के रूप में साठ से अधिक ग्रन्थ-रत्न प्रस्तुत किये।

१९६५ ई. में जब श्रील प्रभुपाद एक मालवाहक जलयान द्वारा प्रथम बार न्यूयार्क नगर में आये तो उनके पास एक पैसा भी नहीं था। अत्यन्त कठिनाई भरे लगभग एक वर्ष के बाद जुलाई १९६६ ई. में उन्होंने, "अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ" की स्थापना की। १४ नवम्बर १९७७ ई. को, कृष्ण-बलराम मन्दिर, श्रीवृन्दावन धाम में अप्रकट होने के पूर्व तक श्रील प्रभुपाद ने अपने कुशल मार्ग-निर्देशन के कारण इस संघ को विश्वभर में सौ से अधिक मन्दिरों के रूप में आश्रमों, विद्यालयों, मन्दिरों, संस्थाओं और कृषि-समुदायों का बृहद् संगठन बना दिया।

१९६८ ई. में श्रील प्रभुपाद ने प्रयोग के रूप में, वैदिक समाज के आधार पर पश्चिमी वर्जीनिया की पहाड़ियों में एक नव-वृन्दावन की स्थापना की। दो हजार एकड़ से भी अधिक के इस समृद्ध नव-वृन्दावन के कृषि-क्षेत्र से प्रोत्साहित होकर उनके शिष्यों ने संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों में भी ऐसे अनेक समुदायों की स्थापना की।

१९७२ ई. में श्रील प्रभुपाद ने डल्लास, टेक्सास में गुरुकुल विद्यालय की स्थापना द्वारा पश्चिमी देशों में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की वैदिक प्रणाली का सूत्रपात किया। तब से, उनके निर्देशन के अनुसार श्रील प्रभुपाद के शिष्यों ने सम्पूर्ण विश्व में दस से अधिक गुरुकुल खोले हैं। श्रीवृन्दावन धाम का भक्तिवेदान्त स्वामी गुरुकुल

इनमें सर्वप्रमुख है।

श्रील प्रभुपाद ने श्रीधाम-मायापुर, पश्चिम बंगाल में एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के निर्माण की प्रेरणा दी। यहीं पर वैदिक साहित्य के अध्ययनार्थ सुनियोजित संस्थान की योजना है, जो अगले दस वर्ष तक पूर्ण हो जाएगा। इसी प्रकार श्रीवृन्दावन धाम में भव्य कृष्ण-बलराम मन्दिर और अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि भवन तथा श्रील प्रभुपाद स्मृति संग्रहालय का निर्माण हुआ है। ये वे केन्द्र हैं जहाँ पाश्चात्य लोग वैदिक संस्कृति का मूल रूप से प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। मुंबई में भी श्री राधारासबिहारीजी मन्दिर के रूप में एक विशाल सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक केन्द्र का विकास हो चुका है। इसके अतिरिक्त भारत में बारह अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों में हरे कृष्ण मन्दिर खोलने की योजना कार्याधीन है।

किन्तु, श्रील प्रभुपाद का सबसे बड़ा योगदान उनके ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ विद्वानों द्वारा अपनी प्रामाणिकता, गम्भीरता और स्पष्टता के कारण अत्यन्त मान्य हैं और अनेक महाविद्यालयों में उच्चस्तरीय पाठ्यग्रन्थों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। श्रील प्रभुपाद की रचनाएँ ५० से अधिक भाषाओं में अनूदित हैं। १९७२ ई. में केवल श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए स्थापित भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विश्व का सबसे बड़ा प्रकाशक हो गया है। इस ट्रस्ट का एक अत्यधिक आकर्षक प्रकाशन श्रील प्रभुपाद द्वारा केवल अठारह मास में पूर्ण की गई उनकी एक अभिनव कृति है जो बंगाली धार्मिक महाग्रन्थ श्रीचैतन्यचरितामृत का सत्रह खण्डों में अनुवाद और टीका है।

बारह वर्षों में, अपनी वृद्धावस्था की चिन्ता न करते हुए परिव्राजक (व्याख्यान-पर्यटक) के रूप में श्रील प्रभुपाद ने विश्व के छहों महाद्वीपों की चौदह परिक्रमाएँ कीं। इतने व्यस्त कार्यक्रम के रहते हुए भी श्रील प्रभुपाद की उर्वरा लेखनी अविरत चलती रहती थी। उनकी रचनाएँ वैदिक दर्शन, धर्म, साहित्य और संस्कृति के एक यथार्थ पुस्तकालय का निर्माण करती हैं। •